HARIDAS SANSKRIT GRANTHAMALA
264
*****

J'1

RAGHUVAMŚA MAHĀKĀVYAM

OF

MAHAKAVI KALIDASA

Edited with the
'Chandrakala' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

SHRI SHESHARAJA SHARMA REGMI
Prof. Department of Nepali
Banaras Hindu University, Varanasi

Chaukhamba Amarabharati Prakashan
Oriental Publishers & Foreign Book-Sellers
Post Box No. 1138
K. 37/130, Gopal Mandir Lane
Varanasi–221001 (India)

भूमिका

महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास भारत में ही नहीं, विश्व में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य—के दोनों भेदों में—उनकी लोक-विश्रुत रचनाएँ पाई जाती हैं।

आर्य-संस्कृतिकी लोकातिशायिताका प्रदर्शन करनेमें महाकविने अपना अनुपम स्थान रक्खा है। सत्य, शिव और सौन्दर्यका कमनीय चित्र उन्होंने अपनी लोकोत्तर कल्पना-कूर्चिकासे उतारा है। जहाँ प्रकृतिका मनोऽभिराम दृश्यका उन्होंने अपनी साधारण धिषणासे प्रसारण किया है वहाँ उन्होंने मनोविज्ञानमें भी अपनी अलौकिक शक्ति का उद्भासन किया है। इस प्रकार बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् दोनों में महाकवि कालिदास ने अपना अद्वितीय कल्पना-कौशल दिखलाया है।

काव्य

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के 'रमणीयाऽर्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस उक्ति के अनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दको 'काव्य' कहते हैं। अभिनयके द्वारा प्रदर्शन किये जानेवाले काव्य को दृश्य 'काव्य' और इसमें रूपका आरोप होनेसे 'रूपक'[1] भी कहते हैं। दृश्य काव्यमें महाकवि कालिदासकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें रूपकके भेदमें परिगणित दो नाटक, जिनमें पहला 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' विश्वविश्रुत है। दूसरा 'मालविकाग्निमित्र' जो उनकी प्रथम रचना होने पर भी उसके काल-निर्णय करनेमें कुछ मात्रामें सहायता करता है। दृश्य काव्यमें महाकविकी तीसरी रचना 'विक्रमोर्वशीय' है यह उपरूपकके भेदोंमेंसे एक 'त्रोटक' के रूपमें परिगणित है।

---

१. रूपकके १० भेद तथा उपरूक के १८ भेद माने जाते हैं। नाटक प्रकरण आदि रूपकके एवं नाटिका, त्रोटक आदि उपरूपकके भेद हैं, देखिए—साहित्य-दर्पण षष्ठ परिच्छेद।

जो काव्य सुना जाता है, वह 'श्रव्य काव्य' कहा जाता है। साहित्य-दर्पणकारने इनके तीन भेद माने हैं—१–'पद्य', २–'गद्य', ३–'चम्पू'।

गद्य काव्यके दो भेद होते हैं 'कथा' एवं 'आख्यायिका'। कादम्बरी और दशकुमार-चरित आदि कथाके तथा हर्षचरित आदि आख्यायिकाके उदाहरण हैं।

इसी तरह पद्य काव्यके भी दो भेद होते हैं—"खण्ड काव्य" और "महाकाव्य"। जिसमें गद्य और पद्य दोनों होते हैं उसे 'मिश्र काव्य' वा 'चम्पू काव्य' कहते हैं[1]। महाकवि कालिदास के श्रव्य काव्योंमें ऋतुसंहार और मेघदूत ये दो खण्ड काव्य और कुमार-संभव एवम् रघुवंश ये दो महा-काव्यके रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त श्रुतबोध, शृङ्गारतिलक और नलोदय आदि बहुत-सी रचनाएँ उनकी कही जाती हैं, जिन्हें बहुतसे प्रामा-णिक विद्वान् कालिदासकी रचनाएँ नहीं मानते। दुःखकी बात है कि कालि-दासने अपने ग्रन्थोंमें अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। उनके परवर्ती विद्वानोंकी रचनाओंसे भी कालिदासको लोकातिशायिनी प्रशंसा के अतिरिक्त उनका कुछ भी परिचय नहीं मिलता। अत एव महाकवि कालिदास कहाँ के रहनेवाले थे ? उनके माता-पिता कौन थे ? और उनका कौटुम्बिक जीवन कैसा था ?

इत्यादि विषय अज्ञानके गम्भीर गर्तमें पड़े हुए हैं।

कालिदास का समय

सामान्यतः महाकवि कालिदासके समयके सम्बन्धमें तीन प्रवाद उप-लब्ध हैं[2]—

१—भोजकाल।

२—चन्द्रगुप्त, द्वितीय विक्रमादित्यका काल।

३—विक्रमादित्य-काल।

---

१. देखिये साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद—

'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

२. कालिदासके काल-निर्णयके सम्बन्धमें विशेष विवरणके लिये देखिये' टीकाकारकी मेघदूत-व्याख्या चन्द्रकलाकी भूमिका। तथा 'महाकविकालिदास' चौखम्बा प्रकाशन।

१—धारा नगरीके अधीश्वर महाराज भोज खृष्टकी ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए हैं 'भोजप्रबन्ध' नामक अपने ग्रंथमें वल्लाल कविने महाकवि कालिदासको भोजका समासद् लिखा है। लोकमें भोज और कालिदासके विषयमें बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह मत भ्रांतिग्रस्त है। वल्लाल कवि भोज-के बाद हुए थे, और उन्होंने भिन्न-भिन्न समय में उद्‌भूत बाण, भारवि और माघ आदि कवियोंको भी भोजका समासद् बना डाला है। इस बातका खण्डन, खृष्टकी सातवीं शताब्दीमें विद्यमान थानेसरके अधीश्वर महाराज हर्षवर्द्धनके सभासद् बाणभट्टके हर्षचरितसे भी हो जाता है। वे कालिदासकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥'—हर्षचरित

२—दूसरे मतके अनुसार महाकवि कालिदास भारतके सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यके समयमें हुए थे। चन्द्रगुप्तकी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) थी। इस राजाकी उपाधि विक्रमादित्य थी। परन्तु प्रथम शताब्दीके सातवाहन अपनी गाथा-सप्तशतीमें लिखते हैं—

'संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं सिक्खिअं तिस्सा ॥'

इस प्रकार विक्रमादित्यकी चर्चा की है। सातवाहनसे समुद्दिष्ट विक्रमा-दित्य ही कालिदासके आश्रयदाता प्रतीत होते हैं। इसकी पुष्टिमें हम निम्न-लिखित प्रमाण दे सकते हैं।

३—महाकवि कालिसाद मालवाऽधीश्वर विक्रमादित्य के आश्रित थे, यह बात उनके 'विक्रमोर्वशीय' नामके त्रोटकसे मालूम होती है। अत एव महाकविने अपने विश्व-विश्रुत 'मेघदूत' में मालवकी राजधानी उज्जयिनीके वैभवका पर्याप्त रूप में वर्णन किया है। भारतवर्षमें यह जनश्रुति अत्यन्त प्रसिद्ध है कि इन्हीं विक्रमादित्यने अपना संवत्सर चलाया था जिसका आज २०२२ वाँ वर्ष है। यद्यपि कुछ आधुनिक इतिहासज्ञ खृष्टसे ५७ वर्ष पूर्व किसी विक्रमादित्यकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु महाकवि कालिदास अपनी एक कृति मालविकाग्निमित्रमें भरतवाक्यके तौरपर लिखते हैं—

'आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाऽग्निमित्रे ।।'

अर्थात् राजा अग्निमित्रके संरक्षकत्वमें प्रजाओंका ईति (अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) भय नहीं होगा, ऐसी आशा की जाती है। यहाँ पर 'अग्निमित्रे गोप्तरि' इस भावलक्षणा सप्तमीके प्रयोगसे जाना जाता है कि कालिदासके समयमें राजा अग्निमित्र जीवित थे। ये अग्निमित्र शुंग-वंशोद्भव पुष्यमित्रके पुत्र थे और इनका काल खृष्टसे पूर्व प्रथम शताब्दी माना जाता है। इन प्रमाणोंके आधार पर कहा जा सकता है कि वे संवत्सरकी प्रथम शताब्दी में हुए थे।

रचना : रघुवंश—महाकवि कालिदास की रचनाओंमें रघुवंश महाकाव्यका उच्च स्थान है। इसमें दिलीपसे लेकर अग्निवर्ण तक सूर्यवंशके राजाओंके चरित्रका अतिशय मनोहर वर्णन किया गया है। तत्तत्-कथानकोंके संक्षिप्त होनेपर भी आवश्यक अंश छूटा नहीं है और रचना सजीव, अत्यधिक आकर्षक और रमणीय है। उसका बार-बार अवलोकन करने पर भी नूतनता परिलक्षित होती है, अत एव कहा भी गया है—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

रघुवंशका प्रस्तुत त्रयोदश और चतुर्दश सर्ग साहित्य-सौन्दर्य और रससे परिपूर्ण है। कहाकविने जैसे मेघदूतमें अपना भौगोलिक ज्ञान दिखलाया है वैसे ही यहाँपर रामके द्वारा उसको सूक्ष्म रूपसे मनोहर रूपमें सूचित किया है। कविकी प्रौढ उक्तिसे भी कवि-निबद्ध वक्ताकी प्रौढ उक्ति अतिशय मनोहर होती है यह बात सहृदयोंके अनुभवसे वेदनीय है, महाकवि कालिदासकी रचना में तो फिर क्या कहना है? मैंने अपनी टीकामें संजीवनीसे विशेष सहायता ली है। अन्यान्य जिन ग्रंथकारोंसे मुझे अपनी कृतिमें सहायता मिली है, उन सबके प्रति मैं हृदयसे कृतज्ञता-ज्ञापन और शीघ्रताके कारण होनेवाली त्रुटिमें क्षमायाचना भी करता हुं। इति।

गङ्गादशहरा
वि० सं० २०२२
वाराणसी

विनयावनत—
शेषराज शर्मा

रघुवंशमहाकाव्यम्

कथासार

(त्रयोदशः सर्गः)

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी राक्षसराज रावणका संहार कर दयिता सीता, प्रिय भ्राता लक्ष्मण, कपीश्वर सुग्रीव और विचक्षण विभीषणके साथ पुष्पक विमान पर आरूढ होकर अयोध्याके लिए प्रस्थान करते हैं।

रामचन्द्रजी मार्गमें सीताजीसे तत्तत्स्थानोंका मनोरम वर्णन करते जाते हैं। रामचन्द्रजी पहले समुद्र, उसकी तीरभूमि, वायु और मेघका आकर्षक वर्णन करते हैं। अनन्तर वे जनसम्मानमें मुनियोंके फिर बनाये गये आश्रमोंका, रावणके हरण करनेपर जहाँ सीताजीका एक नूपुर प्राप्त हुआ था उस स्थानका, माल्यवान् पर्वतका और पम्पा सरोवरका वर्णन करते हैं।

रामचन्द्रजी तदनन्तर गोदावरी, पञ्चवटी, अगस्त्यका आश्रम, शतकर्णि मुनिका 'पञ्चाऽप्सरः' नामका सरोवर, सुतीक्ष्ण मुनिका आश्रम, शरभङ्गका आश्रम, चित्रकूट पर्वत, मन्दाकिनी नदी, पर्वतका निकटवर्ती तमाल वृक्ष, अत्रिमुनिका तपःस्थान और गङ्गाका वर्णन करते हैं।

रामचन्द्रजी प्रयागके वर्णन-प्रसंगमें गङ्गा और यमुनाके सङ्गमका मनोहर वर्णन करते हैं। शृङ्गवेरपुरका वर्णन कर सरयू नदीका वर्णन करते हैं।

हनुमानके द्वारा रामका आगमन जानकर भरतजी गुरु वशिष्ठ, मन्त्रिगण और सेनाओंके साथ अगवानी करनेके लिए आते हैं। रामचन्द्रजी उनसे मिलनेके लिए विमानसे उतरकर वशिष्ठजीको प्रणाम कर अर्घ्य स्वीकारकर भरतको आलिङ्गनकर कुशल-प्रश्न आदिसे मन्त्रियोंको अनुगृहीत

करते हैं। रामचन्द्रजी भरतको सुग्रीव और विभीषणका परिचय देते हैं। लक्ष्मणजीको भरत आलिङ्गन करते हैं।

रामचन्द्रजीकी आज्ञासे सुग्रीव आदि वानर मनुष्य शरीर धारणकर हाथियों पर और विभीषण अनुचरोंके साथ रथपर आरोहण करते हैं। तदनन्तर रामचन्द्रजी भरत और लक्ष्मणके साथ फिर विमान पर आरूढ होते हैं। वहीं पर भरतजी अपनी भौजाई सीताजीको प्रणाम करते हैं। प्रजावर्ग जिसके आगे-आगे चल रहे हैं ऐसे मन्दवेग वाले पुष्पक विमानसे आधा कोस जाकर शत्रुघ्नसे तैयार किये गये तम्बू आदिसे युक्त अयोध्याके सुन्दर उपवनमें सपरिवार रामचन्द्रजीने निवास किया।

—: ❀ :—

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

(त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं शरणं रिपूणाम् ।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥)

अन्वयः—अथ गुणज्ञः स रामाभिधानो हरिः शब्दगुणम् आत्मनः पदं विमानेन विगाहमानः (सन्) रत्नाकरं वीक्ष्य मिथो जायाम् इति उवाच ॥

व्याख्या —अथ कविकुलगुरुवाग्देव्या विलासो महाकवि-कालिदासो रावणवधाऽनन्तरं भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य पुष्पकाऽभिधानाद् व्योमयानादयोध्याप्रस्थानसमयभवं वृत्तं वर्णयति—अथेति ।

अथ = प्रस्थानाऽनन्तरं, गुणज्ञः = गुणाऽभिज्ञः, रत्नाकरादिवर्णनीयपदार्थानां गुणज्ञातेति भावः । सः = प्रसिद्धः, रामाऽभिधानः = रामनामकः, हरिः = विष्णुः, शब्दगुणं = शब्दगुणकम्, आत्मनः = स्वस्य, विष्णोरिति भावः, पदं = स्थानं, विष्णुपदम्, आकाशमिति भावः । विमानेन = व्योमयानेन, पुष्पकेणेति भावः । विगाहमानः = प्रविशन् सन्, रत्नाकरं = समुद्रं, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, मिथः = रहसि, अन्योऽन्यं वा, जायां = पत्नीं, सीतामिति भावः । इति = वक्ष्यमाणप्रकारेण, उवाच = कथयामास ॥ १ ॥

भावार्थः—प्रस्थानानन्तरं भगवान् रामचन्द्रः पुष्पकविमानेनाऽऽकाशमवगाह्य समुद्रं दृष्ट्वा रहसि सीतां वक्ष्यमाणप्रकारेण जगाद ॥ १ ॥

अनुवादः—प्रस्थानके अनन्तर गुणके जानकार "राम" नामवाले भगवान् विष्णुने शब्दगुणवाले आकाशको पुष्पक विमानसे पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें पत्नी सीताजीसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

टिप्पणी—अथ = "मङ्गलाऽनन्तराऽऽरम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः। गुणज्ञः = जानातीति ज्ञः, "ज्ञा अवबोधने" धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय हो गया है। ज्ञा + कः = ज्ञः। गुणानां ज्ञः, (ष० त०)। अथवा गुणान् जानातीति गुणज्ञः, "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे कप्रत्यय हुआ है। "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्" इस सूत्रसे 'गुण' पदको उपपद-संज्ञा होकर "उपपदमतिङ्": इस सूत्रसे उपपदसमास हो गया है।

सः = यहाँपर शब्दके न होनेपर भी तद् शब्दके प्रक्रान्त (आरब्ध) वा प्रसिद्ध अर्थमें होनेसे "विधेयाऽविमर्श" दोष नहीं होता है, जैसे कि साहित्यदर्पणकारने कहा है "प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थकस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादान-नाऽपेक्षते" अर्थात् प्रक्रान्त प्रसिद्ध और अनुभूत अर्थमें रहा हुआ तद् शब्द यद्शब्दके उपादानकी अपेक्षा नहीं रखता है।

रामाऽभिधानः = रमन्ते योगिनोऽस्मिन् इति रामः, क्रीडार्थक 'रम्' धातुसे "हलश्च" इस सूत्रसे घञ् प्रत्यय हुआ है। रम् + घञ् = रामः, रामः अभिधानं यस्य सः, "अनेकमन्यपदार्थे" इस सूत्रसे समास होकर उसको "शेषो वहुव्रीहिः" इस सूत्रसे वहुव्रीहि संज्ञा हुई है। हरिः हरति (पापम्) इति, हरणार्थक 'हृञ्' धातुसे "अच इः" इस सूत्रसे इ प्रत्यय हुआ है। श्रीमद्भागवत में—"लोकत्रयस्य महतीमहरद्यदार्ति स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः (११-७-२)" अर्थात् भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंकी बड़ी पीडाका हरण किया इसलिए स्वायम्भुव मनुने "हरि" कहा है ऐसा लिखा है। शब्दगुण = शब्दो गुणो यस्य, तत् (वहु०), "शब्द आकाशका गुण है" ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। आत्मनः पदं = विष्णुपदं, "वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाश-विहायसी।' इत्यमरः। विमानेन = विगाहन क्रियामें साधन होनेसे "साधकतमं करणम्" इस सूत्रसे 'करण' संज्ञा होकर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्रसे तृतीया विभक्ति हो गई है।

विगाहमानः = विगाहते इति, 'वि' उपसर्ग पूर्वमें होनेवाले 'गाहू विलो-

डने' धातुसे लट्के स्थानमें 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाऽधिकरणे' इस सूत्रसे शानच् प्रत्यय होकर 'आने मुक्' इससे मुक् आगम होकर यह पद बनता है। वि + गाह् + लट् (शानच्)। रत्नाकरः = रत्नानाम् आकरः, तम् (ष० त०), "रत्नाकरो जलनिधिः" इत्यमरः। वीक्ष्य = वि + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। मिथः = "मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि" इत्यमरः।

उवाच = ब्रूञ् धातु के लिट् का रूप है। "ब्रुवो वचिः" इस सूत्र से ब्रू के स्थानमें 'वच्' आदेश होकर सम्प्रसारण कर ऐसा रूप निष्पन्न हो जाता है।

प्रथम और द्वितीय चरणमें उपेन्द्रवज्रा और तृतीय और चतुर्थ चरणमें इन्द्र-वज्रा इस प्रकार दो वृत्तोंका सम्मिश्रण होकर उपजाति छन्द हो गया है। जैसे कि कहा गया है—

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।
'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥'इति ॥ १ ॥

'वैदेहि ! पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हे वैदेहि ! आ मलयात् मत्सेतुना विभक्तं फेनिलम् अम्बुराशिं छायापथेन (विभक्तम्) शरत्प्रसंन्नम् आविष्कृतचारुतारम् आकाशम् इव पश्य ॥ २ ॥

व्याख्या—हे वैदेहि = हे सीते !, आ मलयात् = मलयपर्वतपर्यन्तं, मत्सेतुना = मदालया, विभक्तं = कृतविभागं, द्विधाकृतमिति भावः। फेनिलं = फेनवन्तम्, अम्बुराशिं = समुद्रं, छायापथेन = आकाशस्थानभेदेन, विभक्तं = कृतविभागं, शरत्प्रसन्नं = शरदृतुनिर्मलम्, आविष्कृतचारुतारं = प्रादुर्भूतसुन्दरनक्षत्रम्, आकाशम् इव = अम्बरम् इव, पश्य = अवलोकय, हे सीते ! त्वत्प्राप्त्यर्थं ममाऽयं महान् प्रयास इति भावः ॥ २ ॥

भावार्थः—हे सीते ! मलयं यावदत्यायतसेतुना द्विधाकृतं फेनवन्तं समुद्रं तिरश्चनाऽवकाशेन विभक्तं शरन्निर्मलं सुन्दरनक्षत्रोपेतमाकाशमिवाऽवलोकय ॥ २ ॥

अनुवादः—हे सीते ! मलय पर्वत तक मेरे पुलसे विभक्त और फेनवाले समुद्र को तिरछे अवकाश से विभक्त, शरत् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे सम्पन्न आकाशके समान देखो ॥ २ ॥

टिप्पणी—वैदेहि=विगतो देहः (देहाऽद्यभिमानः) यस्मात् विदेहः (बहु०) विदेहस्य अपत्यं स्त्री वैदेही, तत्सम्बुद्धौ । मिथिला के राजा जनक ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न होनेके कारण देह-गेहादिके अभिमान से रहित होनेसे "विदेह" कहलाते थे । 'विदेह' शब्दसे स्त्रीरूप अपत्यके अर्थमें "तस्याऽपत्यम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "तद्धितेष्वचामादेः" इस सूत्रसे आदिवृद्धि और "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे स्त्रीप्रत्यय ङीप् होकर "वैदेही" पद सिद्ध होता है । अथवा विदेहानां (जनपदानाम्) राजा वैदेहः, विदेह अण् । वैदेहस्याऽपत्यं स्त्री वैदेही । वैदेह=ङीप् । आ मलयात्="पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इस सूत्र से अभिविधि के अर्थ में विद्यमान आङ् के योग में 'मलय' शब्द से पञ्चमी विभक्ति हुई है । भारतवर्षके दक्षिण भागमें वर्तमान पर्वत पिशेष को "मलय" कहते हैं, उसको चन्दनका उत्पत्तिस्थान वतलाया है । संस्कृत साहित्यमें दक्षिणदिशा के वायुके सौरभका वर्णन यत्र तत्र पाया जाता है । कुल सात पर्वत हैं, उनमें मलय भी एक गिना गया है, जैसा कि—

"महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ इति ॥

मत्सेतुना=मम सेतुः मत्सेतुः, तेन (ष० त०) 'सेतु' उत्तर पदके परे रहते "अस्मद्" शब्दके स्थानमें "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इस सूत्रसे "मत" आदेश हो गया है । "सेतुरालौ स्त्रियाँ पुमान्" इत्यमरः । विभक्त=वि+भज्=क्तः । फेनिल=फेनाः सन्ति यस्मिन् तम् यहांपर फेन शब्दसे "फेनादिलच्च" इस सूत्रसे इलच् प्रत्यय हुआ है । अम्बुराशिम्=अम्बूनां राशिः तम् (ष० त०) । छायापथेन=छायायुक्तः पन्थाः छायापथः, तेन, यहाँपर "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपदलोपी समास हुआ है, "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त अप्रत्यय हो गया है । आकाशके ज्योतिश्चक्रके मध्यवर्ती दक्षिण और उत्तरमें विस्तृत तिरछे प्रदेशको "छायापथ" कहते हैं ।

शरत्प्रसन्नं=शरदि प्रसन्नं, तत् (सप्तमी तत्पुरुषः) आविष्कृतचारुतारम् =चारवश्च ताः ताराः चारुताराः (क० धा०) आविष्कृताः चारुतारा यस्मिन्

(बहु०)। पश्य=प्रेक्षणाऽर्थक दृश्धातुके लोट्का रूप है, "पाघ्राध्मा०" इत्यादि सूत्रसे दृश्के स्थानमें "पश्य" आदेश हुआ है। इस श्लोकमें पूर्णोपमा अलंकार और इन्द्रवज्रा छन्द है "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" यह छन्दका लक्षण है ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये[1] रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्द्धितो नः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यियक्षोः गुरोः मेध्ये तुरङ्गे कपिलेन रसातलं संक्रमिते सति तदर्थम् उर्वीम् अवदारयद्भिः नः पूर्वैः अयं परिवर्द्धितः किल ॥ ३ ॥

व्याख्या—यियक्षोः=यजनेच्छोः, गुरोः=पूज्यस्य, सगरस्येत्यर्थः। मेध्ये =अश्वमेधाऽर्हे, तुरङ्गे=हये, कपिलेन=कपिलमुनिना, सगरसुतविश्वासाऽनुरोधनेयमुक्तिः, वस्तुस्तु इन्द्रेण, रसातलं=पातालं, संक्रमिते=प्रापिते सति, तदर्थं=तुरङ्गाऽर्थम्, उर्वीं=पृथ्वीम्, अवदारयद्भिः=खनद्भिः, नः= अस्माकं, पूर्वैः=पूर्वजैः, अयं=अम्बुराशिः, परिवर्द्धितः=समर्द्धितः, किलेति ऐतिह्ये ॥ ३ ॥

भावाऽर्थः—यष्टुमिच्छोः सगरस्य यज्ञियहये कपिलेन पातालं प्रापिते सति तदन्वेषप्रसङ्गेन पृथ्वीं खनद्भिरस्मत्पूर्वजैः समुद्रः परिवर्द्धित इति ऐतिह्यम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठान करनेके लिए इच्छा रखने वाले सगरके यज्ञके घोड़ेको कपिलसे पातालमें पहुंचानेपर उसके लिए पृथ्वीको खोदनेवाले हमारे पूर्वजों (सगरके साठ हजार पुत्रों) से यह समुद्र बढ़ाया गया है ऐसा ऐतिह्य है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—यियक्षोः=यष्टुम् इच्छुः यियक्षुः नस्य, सन् प्रत्ययान्त यज् धातुसे "सनाशंसभिक्ष उः" इस सूत्रसे उप्रत्यय हुआ है। यज्+सन्+उः= यियक्षुः। मेध्ये=मेध+ण्यत्। "पूतं पवित्रं मेध्यं च" इत्यमरः। कपिलेन= भगवान् विष्णुके चौबीस अवतारोंमें "कपिल" एक अवतार है, ये सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक थे, इनकी माता देवहूति स्वायम्भुव मनुकी पुत्री थी, पिता कर्दम

१. "पूर्वम्" इति पाठान्तरम्।

ऋषि, ब्रह्माजीके पुत्र थे। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ-स्कन्धमें इन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्य और योगका उपदेश दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दशम अध्यायमें "सिद्धानां कपिलो मुनिः" कहा है। अथवा यहाँ "कपिल" पदका अर्थ है इन्द्र, जैसे कि वैजयन्तीकोश में है—'कपिलः कपिलो वर्णः कपिलः पाकशासनः"। रसातलं = रसायाः (पृथिव्याः) तलम् (अधोभागः) तत् (ष० त०)। "भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा।" इति "अधः-स्वरूपयोरस्त्री तलम्" इति "अधोभुवनपातालं बलिसद्म रसातलम्" इति चाऽमराः। "रसा" कहते हैं पृथ्वीको उसका तल = अधोभाग, रसातल अर्थात् पाताल। संक्रमिते = सं + क्रम् + णिच् + क्तः। तदर्थं = तस्मै इदं (च० त०)। "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" इस सूत्रसे और "अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे चतुर्थीतत्पुरुष समास हुआ है। "तदर्थम्" का अर्थ हुआ उस (घोड़े) के लिए।

अवदारयद्भिः = अवदारयन्तीति अवदारयन्तः, तैः, अव + दृ + णिच् लट् (शतृ)। नः 'अस्माकम्' के स्थानमें "बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्रसे "नस्" आदेश हुआ है। परिवर्द्धितः = परि + वृध + णिच् + क्तः। किल = यह ऐतिह्य अर्थका द्योतक अव्यय है।

पौराणिक इतिवृत--सूर्यवंशमें "सगर" नामके एक राजा हो गये हैं। जब ये माताके गर्भमें थे इनकी सपत्नीमाताने इनकी माताको गर अर्थात् विष खिला दिया, ये उसी गरके साथ उत्पन्न हुए इसीलिए इनका नाम "सगर" हुआ है। इनके ६०००० पुत्र थे। उन्होंने ९९ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया। जब उन्होंने सौवें यज्ञका आरम्भ किया तब अपनी पदच्युतिकी आशङ्कासे देवराज इन्द्रने यज्ञिय अश्वका हरणकर पातालमें कपिलके पास बांध दिया। सगरके पुत्रोंने जब अश्वको नहीं देखा तब वे उसके अन्वेषणप्रसङ्गमें पृथ्वी खोदकर पातालमें पहुंच गये और कपिल मुनिके पास बंधे उस घोड़ेको देखकर उन्हींको घोड़ेको चुरानेवाला समझकर दण्ड देनेके लिए तत्पर हुए, तब कपिलके नेत्र खोलने मात्रसे सबके सब भस्म हो गये। सगरके उन पुत्रोंका उद्धार करनेके लिए गङ्गाजीको लानेका प्रयास उनकी पुस्तोंमें कई लोगोंने किया, पर सब असफल होकर दिवंगत हुए। आखिर भगीरथ

ने तपश्चरणपूर्वक गङ्गाजीको लाकर अपने पूर्व पुरुषोंको उबारा और सागर-का आविर्भाव हुआ। छन्द यहाँ पर भी उपजाति है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

अन्वयः—अर्कमरीचयः अस्मात् गर्भं दधति। अत्र वसूनि विवृद्धिम् अश्नुवते। असौ अबिन्धनं वह्निं बिभर्ति। अनेन प्रह्लादनं ज्योतिः अजनि ॥ ४ ॥

व्याख्या—अर्कमरीचयः=सूर्यकिरणाः, अस्मात्=समुद्रात्, गर्भं=जल-मयं कोशं, दधति=धारयन्ति, वृष्ट्यर्थमित्यर्थः। अयं लोकोपकारीति भावः। अत्र=समुद्रे, वसूनि=धनानि, विवृद्धिं=समृद्धिम्, अश्नुवते=प्राप्नुवन्ति, अयं सम्पत्तिशालीति भावः। असौ=समुद्रः, अबिन्धनं=जलदाहकं, वह्निम्=अग्निं, प्रह्लादनम्=आह्लादकं, ज्योतिः=प्रकाशः, चन्द्र इत्यर्थः। अजनि=जनितं, सौम्योऽयमिति भावः ॥ ४ ॥

भावार्थः—सूर्यकिरणाः समुद्रादेव जलं संगृह्णन्ति। अयं रत्नाकरोऽस्ति। समुद्र एव वडवानल आस्ते। अस्मादेव चन्द्रस्योद्गमः ॥ ४ ॥

अनुवादः—सूर्यकी किरणें इस (समुद्र) से जलमय गर्भको धारण करती हैं। इसमें रत्न वृद्धिको प्राप्त करते हैं। यह समुद्र जलरूप इन्धनवाले वडवाग्निको धारण करता है। समुद्रसे आह्लादक प्रकाश (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—अर्कमरीचयः=अर्कस्य मरीचयः (ष० त०) अस्मात्= "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस सूत्र से अपादानसंज्ञा होकर 'अपादाने पञ्चमी' इससे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

दधति=धारणपोषणाऽर्थ (डु) धाञ् धातुके लट्के प्रथमपुरुषका बहु-वचनाऽन्त रूप है।

अत्र=अस्मिन् इति, इदम् शब्दसे "सप्तम्यास्त्रल्" इस सूत्रसे त्रल् प्रत्यय हो गया है, इदम्+त्रल्। "तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः" इस सूत्रसे अव्यय हुआ है। वसूनि="रिक्थमृक्थं धनं वसु" इत्यमरः। विवृद्धिं=विशिष्टा

वृद्धिः, ताम्, यहाँपर "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे समास हुआ है। अश्नुवते—व्याप्त्यर्थक अशूङ् धातुके लट्का रूप है। ङित् होनेसे "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" इस सूत्रसे आत्मनेपद हुआ है।

अविन्धनम्=आप इन्धनं (दाह्यम्) यस्य, तम् (बहु०)। बिभर्ति धारणपोषणार्थक (डु) भृञ् धातुके लट्का रूप है। प्रह्लादनं=प्रह्लादयतीति, सुखाऽर्थकं ह्लाद् धातुसे "कृत्यल्युटो बहुलम्" इससे बहुलग्रहणसामर्थ्यसे कर्ताके अर्थमें ल्युट् प्रत्यय हुआ है। प्रह्ला+ल्युट्=प्रह्लादनम्। अजनि=प्रादुर्भाव अर्थमें वर्तमान जनी धातुसे कर्ममें लुङ् हुआ है। यहाँ छन्द उपजाति है ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

अन्वयः—तां ताम् अवस्थाम् प्रतिपद्यमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोः इव अस्य रूपम् ईदृक्तया इयत्तया वा अनवधारणीयम् ॥ ५ ॥

व्याख्या—तां ताम्=अनेकाम्, अवस्थां=स्थितिम्, समुद्रपक्षे—अक्षोभाद्यवस्थां, विष्णुपक्षे—सत्त्वाद्यवस्थां, प्रतिपद्यमानं=भजमानं, महिम्ना=महत्त्वेन, दश=दशसंख्यकाः, दिशः=काष्ठाः, व्याप्य=व्याप्ताः कृत्वा, स्थितं=विद्यमानं, विष्णोः इव=हरेः इव, अस्य=समुद्रस्य, रूपं=स्वरूपम्, ईदृक्तया=ईदृशत्वेन, प्रकाशत इति भावः, इयत्तया वा=इदं परिमाणत्वेन वा, परिमाणतश्चेति भावः। अनवधारणीयम्=निश्चेतुमशक्यं, दुर्निरूपमित्यर्थः ॥ ५ ॥

भावाऽर्थः—अनेकामवस्थां भजमानं महत्त्वेन सर्वा अपि दिशो व्याप्तवतः विष्णोरिवाऽस्य स्वरूपं प्रकारतः परिमाणतश्च निरूपयितुमशक्यम् ॥ ५ ॥

अनुवादः—उन उन (अनेक) अवस्था (समुद्रपक्ष में अक्षोभ आदि और विष्णुपक्षमें सत्त्व आदि) को प्राप्त करनेवाले और महिमासे दशों दिशाओंको व्याप्त कर रहे हुए विष्णुके समान इस समुद्रका स्वरूप ऐसा है और इतना है ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—तां ताम्="नित्यवीप्सयोः" इस सूत्रसे द्विरुक्ति हुई है।

प्रतिपद्यमानं=प्रतिपद्यत इति, प्रति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक दिवादिगणस्थ पदधातु से लट् के स्थान में शानच् हुआ है, और "आने मुक्" इस सूत्र से मुक् आगम हो गया है। प्रति+पद्+लट् (शानच्)।

महिमा=महतो भावो महिमा, तेन, 'महत्' शब्दसे "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय हुआ है। महत्+इमनिच्। व्याप्य=वि+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। स्थितं=स्था+क्तः। ईदृक्तया=अयमिव दृश्यते ईदृक्=इदम्+दृश्+क्विन्। ईदृशो भाव 'ईदृक्ता' तया, 'ईदृश्' शब्दसे "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे तल् प्रत्यय होकर 'तलन्तं स्त्रियाम्" इस लिङ्गानुशासन सूत्रसे स्त्रीलिङ्गी होनेसे "अजाद्यतष्टाप्" इससे टाप् प्रत्यय हो गया है। ईदृश्+तल्+टाप्=इयता। अनवधारणीयम्=अवधारयितुं योग्यम् अवधारणीयम् अवपूर्वक णिजन्त धृ धातुसे "तव्यत्तव्याऽनीयरः" इस सूत्रसे अनीयर् प्रत्यय हुआ है। अव+धृ+णिच्+अनीयर्=अवधारणीयम्। न अवधारणीयम्, "नञ्" इससे नञ् समास हुआ है। "नपोलो नञः" इस सूत्रसे नकारका लोप होकर "तस्मान्नुडचि" इस सूत्रसे नुट् आगम हो गया है। इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार और उपजाति वृत्त है ।। ५ ।।

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ।।६।।

अन्वयः—युगान्तोचितयोगनिद्रः पुरुषो लोकान् संहृत्य नाभिप्ररूढाऽम्बुरुहाऽऽसनेन प्रथमेन धात्रा संस्तूयमानः (सन्) अमुम् अधिशेते ।। ६ ।।

व्याख्या—युगाऽन्तोचितयोगनिद्रः=कल्पान्तपरिचितयोगनिद्रः। पुरुषः=पुराणपुरुषः भगवान्विष्णुरिति भावः। लोकान्=भूर्भुवादीनित्यर्थः। संहृत्य=प्रलीय, नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन=नाभ्युत्पन्नकमलाऽऽसनेन, प्रथमेन=मुख्येन, धात्रा=प्रजापतिना, ब्रह्मदेवेनेति भावः। संस्तूयमानः=परिणूयमानः सन्, अमुम् अधिशेते=समुद्रे शेत इति भावः। प्रलयकालेऽप्ययमास्त इति भावः।।

भावाऽर्थः—भगवान् विष्णुः प्रलयकाले सर्वानपि, लोकान् संहृत्य योगनिद्रामवलम्ब्य ब्रह्मणा संस्तूयमानः सन्नस्मिन्समुद्रे शेते ।। ६ ।।

अनुवादः—प्रलयकालमें योग निद्राका अवलम्बन करनेवाले भगवान् विष्णु लोकोंका संहारकर अपनी नाभिमें उत्पन्न कमलमें बैठनेवाले ब्रह्माजीसे स्तुति किये जाते हुए इसी समुद्रमें सोते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—युगाऽन्तोचितयोगनिद्रः=युगानाम् अन्तः (ष० त०) "युगान्त" कहते हैं प्रलयको। प्रलयके चार भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक। जिस गाढ़ निद्रामें स्वप्न नहीं देखा जाता है उस सुषुप्तिको "नित्य प्रलय" कहते हैं।

युग चार हैं सत्य, त्रेता, द्वापर, और कलि। सत्ययुगका परिमाण १७,२८००० वर्ष, त्रेतायुगका परिमाण १२,९६००,० वर्ष, द्वापर युगका परिमाण ८,६४००० वर्ष और कलियुगका ४,३२००० वर्ष परिमाण हैं। इन चार युगोंका १ चतुर्युग (चौकड़ी) होकर देवताओंका युग होता है। "चतुर्युगसहस्र तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इस उक्तिके अनुसार हजार चौकड़ियों-में ब्रह्माजीका १ दिन पूरा हो जाता है; उसी तरह हजार चौकड़ियोंमें ब्रह्माजीकी एक रात पूरी हो जाती है।

"यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥" (१—५२)।

मनुस्मृति की इस उक्तिके अनुसार भगवान्के दिनमें सारा जगत् चेष्टा करता है और जब वे रातमें सोते हैं, तब सब जगत् निमीलित होता है। अर्थात् जगत्का प्रलय हो जाता है इसको "नैमित्तिक प्रलय" कहते हैं।

पूर्वोक्त परिमाणके अनुसार जब ब्रह्माजीके भी सौ वर्ष पूरे हो जाते हैं, तब उनका भी भगवान्में विलय हो जाता है, "इसको प्राकृत प्रलय" कहते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कारसे होने वाले मोक्षको "आत्यन्तिक प्रलय" कहते हैं। सो प्रकृतमें "नैमित्तिक प्रलय" विवक्षित है। "प्रथमेन धात्रा संस्तूयमानः" अर्थात् प्रथम प्रजापति ब्रह्माजीसे स्तुति किये जाते हुए ऐसा कथन ब्रह्माजीको शयनवेला रात्रिमें कैसे सम्भव है ? इसका समाधान—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥" (२—६९)

भगवद्गीताकी इस उक्तिसे हो जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंकी रात्रि (शयनवेला) में भी संयमी जगा रहता है। तात्पर्य यह है कि लोक-दृष्टि से ब्रह्माजी सोये हुए-से प्रतीत होते हैं, पर उस समय भी वे भगवान् की स्तुति करते रहते हैं।

लोकान्="लोक" कहने से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये सात ऊर्ध्वलोक और अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये सात अधोलोक कुल १४ लोक विवक्षित हैं। अथवा कपिञ्जलाऽधिकरण न्यायसे स्वर्ग, मर्त्य और पाताल ये तीन लोक विवक्षित हैं। संहृत्य=सं+हृञ् क्त्वा (ल्यप्)।

नाभिप्ररूढाऽम्बुरुहाऽऽसनेन=नाभ्यां प्ररूढम् (स० त०)। अम्बुनि रोहतीति अम्बुरुहम्, अम्बु-उपपदपूर्वक बीजप्रादुर्भाव अर्थमें विद्यमान 'रुह्' धातुसे "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय हुआ है। अम्बु+रुह्+कः (उपपदसमासः)।

नाभिप्ररूढं च तत् अम्बुरुहम्, "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इस सूत्रसे समास होकर "तत्पुरुषः समानाऽधिकरणः कर्मधारयः" इस सूत्रसे उसकी "कर्मधारय" संज्ञा हो गई है। नाभिप्ररूढाऽम्बुरुहम् आसनं यस्य, तेन (बहु०)। धात्रा=दधातीति धाता, तेन, धारणपोषण अर्थमें विद्यमान (डु) धाञ् धातु से "ण्वुल्तृचौ" इस सूत्रसे तृच् प्रत्यय हुआ है। सामान्य धातृपदका अर्थ प्रजापति है। "प्रथमेन" इस विशेषण से मरीचि आदि दश अन्य प्रजापतियों के भी स्रष्टा भगवान् ब्रह्मदेव विवक्षित हैं। दश ब्रह्मा वा प्रजापतियोंके नाम हरिवंशमें इस प्रकारसे दिये गए हैं—

"मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च नारदो दशमस्तथा।
दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः॥"

संस्तूयमानः=संपूर्वक स्तुत्यर्थक "ष्टुञ्" धातुसे कर्मके लट्के स्थानमें शानच् प्रत्यय और मुक् आगम हुआ है। अमुम्="अधिशेते" अधिपूर्वक स्वप्नाऽर्थक शीङ् धातुके योगमें ',अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे आधारको कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई है। उपाजाति वृत्त है॥ ६॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

अन्वयः—पक्षच्छिदा गोत्रभिदा आत्तगन्धा महीध्रा, शतशः शरण्यम् एनं परेभ्यः उपप्लविनो नृपा धर्मोत्तरं मध्यमम् इव आश्रयन्ते ।

व्याख्या—पक्षच्छिदा = पतत्रच्छेदकेन, गोत्रभिदा = पर्वतविदारकेण, इन्द्रेणेत्यर्थः । आत्तगन्धाः = हृतगर्वाः अभिभूता इति भावः । महीध्राः = पर्वताः, शतशः = शतं शतं, शरण्यं = रक्षणसमर्थम्, एनं = समुद्रं, परेभ्यः = शत्रुभ्यः, उपप्लविनः = भयवन्तः, नृपाः = राजानः, धर्मोत्तरं = धर्मप्रधानं, मध्यमम् इव = मध्यमभूपालम् इव, आश्रयन्ते = अवलम्बन्ते, समुद्रोऽयमार्तबन्धुरस्तीति भावः ॥ ७ ॥

भावार्थः—पक्षच्छेदकेनेन्द्रेणाऽभिभूताः शतशः पर्वताः एनं भीता राजानो धर्मप्रधानं मध्यभूपालमिवावलम्बन्ते ॥ ७ ॥

अनुवादः—पक्षोंको काटने वाले इन्द्रसे गर्वरहित किये गये सैकड़ों पर्वत इसको जैसे शत्रुओंसे डरे हुए राजा धर्मप्रधान तटस्थ राजाका आश्रय लेते हैं उसी प्रकार आश्रय लेते हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पक्षच्छिदा = पक्षान् छिनत्तीति पक्षच्छित्, तेन "सत्सूद्विष०" इत्यादि सूत्रसे क्विप् प्रत्यय हो गया है, पक्ष + छिद् + क्विप् (उपपदसमासः) गोत्रभिदा = गां (पृथिवीम्) त्रायन्ते इति गोत्राः, गो = उपपदपूर्वक पालनाऽर्थक त्रैङ् धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे 'क' प्रत्यय हुआ है । गो + त्रै + कः (उपपदसमासः) । "अद्रिगोत्रगिरिग्रावाऽचलशैलशिलोच्चयाः ।" इत्यमरः । गोत्रान् भिनत्तीति गोत्रभित्, तेन, पूर्वसूत्रसे क्विप् प्रत्यय हुआ है । गोत्र + भिद् = क्विप् (उपपदसमासः) । आत्तगन्धाः—आङ् + दा + क्तः = आत्तः । आत्तो गन्धो येषां ते (बहु०) "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" । इति विश्वः । "आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्" इत्यमरः । महीध्रः = महीं धारयन्तीति "कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्" इस सूत्रसे मही—उपपदपूर्वक धारणाऽर्थक धृञ् धातुसे कप्रत्यय हुआ है । मही धृ + कः (उपपसमासः) । "महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः ।" इत्यमरः । शतशः = शत शब्दसे "बह्वल्पाऽर्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्" इति सूत्रसे शस् प्रत्यय हुआ

है। 'तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः' इस सूत्रसे 'अव्यय' संज्ञक हो गया है। शरण्यं=शरणे साधुः, तम्, शरण शब्द से "तत्र साधुः" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय और "यस्येति च" इस सूत्रसे अवर्णका लोप हुआ है। एनम्=इदम् वा एतद् शब्दसे अन्वादेशमें "द्वितीयाटौस्स्वेनः" इस सूत्रसे 'एन' आदेश हुआ है। उपप्लविनः=उपप्लवः (भयम्) अस्ति येषां ते, उपप्लव शब्दसे "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हो गया है। नृपाः=नृन् पान्तीति, नृ-उपपद, पूर्वक रक्षणार्थक पा धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय और "आतो लोप इटि च" इस सूत्रसे आकारका लोप हुआ है। नृ+पा+क (उपपदसमासः)। धर्मोत्तरं=धर्म उत्तरो यस्य, तम् (बहु०)। मध्यमं=मध्ये भवो मध्यमः, तम् "मध्यान्मः" इस सूत्रसे म प्रत्यय हो गया है। आश्रयन्ते=आङ् पूर्वक "श्रिञ् सेवायाम्" इस धातुसे लट् हुआ है। मध्यम भूमिपालके विषयमें कामन्दकने अपने नीतिसारमें लिखा है।

"अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः।"

अर्थात् शत्रु और विजयाऽभिलाषी राजाके देशके निकटवर्तीको "मध्यम" कहते हैं। इस श्लोकमें उपमा अलङ्कार है। पौराणिक इतिवृत्त—पूर्वकालमें पर्वत पक्षवाले होते थे, इसीलिए उनके उड़ने पर उनमें रहनेवाले जीव आपद्ग्रस्त हो जाते थे, उन जीवों की प्रार्थना से इन्द्रने कई पर्वतोंके पङ्ख काट डाले। अतः इन्द्र "पक्षच्छिद्" कहे जाते हैं। इसमें भी उपजाति छन्द है ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

अन्वयः—आदिभवेन पुंसा रसातलात् प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः, भुवः प्रलयप्रवृद्धम् अस्य अच्छं अम्भः मुहूर्तवक्त्राऽभरणं बभूव ॥ ६ ॥

व्याख्या—आदिभवेन=पुरातनेन, पुंसा=पुरुषेण, आदिवराहेणेति भावः। रसातलात्=पातालात्, प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः=कृतोद्धरणक्रियायाः, भूमिरादिवराहस्य पत्नीत्यतः परिणीताया इत्यर्थोऽपि ध्वन्यते। भुवः=पृथिव्याः, प्रलयप्रवृद्धं=कल्पाऽन्तसमृद्धम्। अस्य=समुद्रस्य, अच्छं=निर्मलम्, अम्भः=जलं, मुहूर्तवक्त्राऽऽभरणं=कञ्चित्कालं यावत् मुखाऽवगुण्ठनं, लज्जारक्षणार्थमिति भावः। बभूव=विद्यते स्म ॥ ८ ॥

भावार्थः—भगवता वराहेण पातालादुद्धृताया भुवः प्रलयात् प्रवृद्धं समुद्रजलं कञ्चित्कालं मुखाऽवगुण्ठनं सञ्जातम् ॥ ८ ॥

अनुवादः—भगवान् वाराह से पाताल से उठाई गई (वा विवाहिता) पृथिवी का प्रलय में बढ़ा हुआ समुद्रका निर्मल जल कुछ काल तक मुहका घूंघट हो गया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—आदिभवेन=आदौ भवः, तेन (स० त०)। रसातलात्= अपादाने पञ्चमी। प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः=उद्वहनस्य क्रिया (ष० त०)। प्रयुक्ता उद्वहनक्रिया यस्याः सा प्रयुक्तोद्वहनक्रिया तस्याः (बहु०) "उद्वहन" शब्द का अर्थ उठाना और विवाह करना भी है इसीलिये समस्त पदका अर्थ हुआ—उठाई गई या व्याही गई। भुवः="भूर्भूमिरचलाऽनन्ता" इत्यमरः। प्रलयप्रवृद्धं=प्रकृष्टो लयः प्रलयः "कुगतिप्रादयः" इति समासः। प्रलये प्रवृद्धम् (स० त०)। मुहूर्तवक्त्राऽऽभरणं=वक्त्रस्य आभरणं वक्त्राऽऽभरणम् (ष० त०)। मुहूर्तं वक्त्राऽऽभरणम्, यहाँपर कालके अत्यन्तसंयोगमें "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया विभक्ति होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इस सूत्रसे द्वितीयातत्पुरुष समास हो गया है। बभूव='भू सत्तायाम्' इस धातुसे "परोक्षे लिट्" इस सूत्रसे लिट् हुआ है। पुराणोंमें पृथ्वीको भगवान्ने वराहकी पत्नी कहा है। प्रलय कालमें बढ़ा हुआ समुद्रका जल वराहसे उठाई गई पृथिवीका परदावाली महिलाके घूंघटके समान हो गया इसका यह तात्पर्य है। यहाँ पर परिणाम अलंकार है। छन्द पूर्ववत् ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः तरङ्गाऽधरदानदक्षः असौ मुखाऽर्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः सिन्धूः स्वयं पिबति पाययते च ॥ ९ ॥

व्याख्या—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः = अनितरसाधारणपत्नीव्यवहारः, तरङ्गाऽधरदानदक्षः–ऊर्म्योष्ठसमर्पणचतुरः, असौ=समुद्रः, मुखाऽर्पणेषु=आननसमर्पणेषु, चुम्बनाऽर्थमिति शेषः। प्रकृतिप्रगल्भाः=स्वभावधृष्टाः, सिन्धूः= नदीः, स्वयम्=आत्मना, पिबति=धयति, चुम्बतीति भावः। पाययते च= पानं कारयति च। चुम्बनं कारयति चेति भावः। तरङ्गाऽधरस्येति शेषः ॥

भावार्थः—पत्नीष्वसाधारणवृत्तिः तरङ्गाधरसमर्पणनिपुणोऽसौ समुद्रः मुखसमर्पणेषु स्वभावधृष्टा नदीः स्वयं पिबति पाययते च ॥ ६ ॥

अनुवादः—पत्नियोंमें असाधारण भोगरूप व्यवहार करनेवाला तरङ्गरूप ओष्ठके समर्पणमें चतुर यह समुद्र मुखके अर्पणमें स्वभावतः ढीठ नदियोंको स्वयम् पान करता है और कराता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः = अन्येषां (पुरुषाणाम्) सामान्या (ष० त०), न अन्यसामान्या (नञ्०) । कलत्रेषु वृत्तिः (स० त०), "कलत्रं श्रोणिभार्ययोः" इत्यमरः । अनन्यसामान्या कलत्रवृत्तिः यस्य सः (बहु०) । तरङ्गाऽधरदानदक्षः = तरङ्ग एव अधरः तरङ्गाऽधरः, यहाँपर "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे रूपक समास हुआ है । तरङ्गाऽधरस्य दानं (ष० त०) तस्मिन् दक्षः (स० त०) मुखाऽर्पणेषु = मुखानाम् अर्पणानि, तेषु (ष० त०) प्रकृतिप्रगल्भाः = प्रकृत्या प्रगल्भाः ताः, यहाँपर "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस सूत्रसे तृतीया होकर तृतीयातत्पुरुष समास हो गया है । सिन्धूः "पाययते" इसके योगमें "गतिबुद्धिप्रत्यवसानाऽर्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई है । "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः । यहाँ पर सिन्धु शब्दका अर्थ नदी है । पिबति—"पा पाने" धातुसे लट् होकर पा धातुके स्थानमें "पिब" आदेश हुआ है । पाययते = पा धातु से "हेतुमति च" इस सूत्रसे णिच् प्रत्यय होकर लट्के प्रथमपुरुषका रूप है । यहाँपर "निगरणचलनाऽर्थेभ्यश्च" इस सूत्रसे परस्मैपदकी प्राप्ति थी परन्तु "न पादम्याङ्यमाङ्यासपरिमुहरुचिनृतिवदवसः" इस सूत्रसे ण्यन्त पा धातुसे परस्मैपदका निषेध हो गया है । इस श्लोकमें समुद्रसे नदियोंके मुखोंके अर्पण करनेसे और समुद्रका नदियोंमें तरङ्गका समर्पण करनेसे समुद्र और नदियोंमें नायक और नायिकाओंके चुम्बन व्यवहारका समारोप होकर "समासोक्ति" अलंकार हो गया है । इसका लक्षण साहित्यदर्पणमें ऐसा है—

'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुना ॥' इति ।

उपेन्द्रवज्रा छन्द है, जेसे कि लक्षण है—

"उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।" इति ॥ ६ ॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥

अन्वयः—अमी तिमयः विवृताऽऽननत्वात् ससत्त्वं नदीमुखाऽम्भः आदाय सम्मीलयन्तः सरन्ध्रैः शिरोभिः जलप्रवाहान् ऊर्ध्वं वितन्वन्ति ॥१०॥

व्याख्या—अमी = एते, तिमयः = मत्स्यविशेषाः, विवृताऽऽननत्वात् = व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः, आननं विवृत्येत्यर्थः । ससत्त्वं = जन्तुसहितं मत्स्याऽऽदिप्राणिसहितमित्यर्थः । नदीमुखाऽम्भः = सरिन्मुखजलम्, आदाय = गृहीत्वा, सम्मीलयन्तः = सम्मीलनं कुर्वन्तः, चञ्चुपुटानि संघट्टयन्तः सन्त इत्यर्थः । सरन्ध्रैः = छिद्रसहितैः, शिरोभिः = मस्तकैः, जलप्रवाहान् = सलिलप्रवाहान्, ऊर्ध्वम् = उपरिदेशे, वितन्वन्ति = विस्तारयन्ति । अत्र जलयन्त्रक्रीडासमाधिर्व्यज्यते ॥

भावाऽर्थः—अमी मत्स्यविशेषा आननं विवृत्य मत्स्यादिप्राणिसहितं जलं गृहीत्वा चञ्चुपुटानि संघट्टयन्तः सच्छिद्रैर्मस्तकैर्जलप्रवाहान् ऊर्ध्वं विस्तारयन्ति ॥ १० ॥

अनुवादः—(हे सीते !) ये तिमि (बड़े-से मत्स्य) मुख खुला होनेसे मछली आदियोंके साथ नदियोंकी मुहानेके जलको लेकर मुख वन्द सरनेसे छेदवाले मस्तकोंसे जलके प्रवाहोंको फौव्वारेके सदृश ऊपर फैला रहें हैं ॥१०॥

टिप्पणी—अमी = "अदसस्तु विप्रकृष्टे" इस उक्तिके अनुसार दूरस्थ पदाऽर्थकी इङ्गित करनेमें "अदस्" शब्दका प्रयोग होता है । तिमयः = मत्स्यविशेषको "तिमि" कहते हैं ।

"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम दशयोजनमायतः ।" इस उक्तिके अनुसार दसयोजन अर्थात् चालीस कोश चौड़े मत्स्यविशेषको "तिमि" कहते हैं । आधुनिक लोग इसको ह्वेल (Whale) कहते हैं । कुछ लोग ह्वेलको मछली नहीं भी मानते हैं । विवृताऽऽननत्वात् = विवृतम् आननं येषां ते विवृताऽऽननाः (बहु०) विवृताऽऽननानां भावो विवृताऽऽननत्वं तस्मात् "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे भाव अर्थमें त्वप्रत्ययहोकर "त्वाऽन्तं क्लीवम्" इस लिङ्गाऽनुशासन सूत्रसे क्लीव (नपुंसक) लिङ्गी हुआ है । "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" इससें हेतुमें पञ्चमी हुई है । ससत्त्वं = सत्त्वैः सहितं, तत्, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे

तुल्ययोगमें बहुव्रीहि होकर "वोपसर्जनस्य' इससे 'सह' के स्थानमें विकल्पसे "स" आदेश हुआ है। एक पक्षमें "सहसत्त्वम्" ऐसा रूप भी बनता है। नदीमुखाऽम्भः=नद्या मुखं (ष० त०), तस्य अम्भः, तत् (ष० त०)। आदाय=आङ्उपसर्गपूर्वक "डुदाञ् दाने" "धातुसे "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्रसे क्त्वा प्रत्यय होकर उसके स्थानमें 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इससे ल्यप् आदेश हुआ है। सम्मीलयन्तः=सं मील+णिच्+लट् (शतृ)। सरन्ध्रैः=रन्ध्रैः सहितानि संरन्ध्राणि, तैः (तुल्ययोग बहु०)। यह "शिरोभिः" इस पदका विशेषण है। जलप्रवाहान्=जलस्य प्रवाहाः, तान् (ष० त०)। ऊर्ध्वम्=यह क्रियाविशेषण है। वितन्वन्ति=वि-उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' इस धातुसे लट्। इस श्लोकमें स्वभावोक्ति अलंकार है। इसमें उपजाति वृत्त है॥ १०॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम्॥ ११॥

अन्वयः—सहसा उत्पतद्भिः मातङ्गनक्रैः द्विधा भिन्नान् समुद्रफेनान् पश्य। ये एषां कपोलसंसर्पितया कर्णक्षणचामरत्वं व्रजन्ति॥ ११॥

व्याख्या—(हे सीते!) सहसा=अतर्कित एव, उत्पतद्भिः=उत्पतनं कुर्वद्भिः, मातङ्गनक्रैः=हस्त्याकारैर्ग्राहैः, द्विधा=प्रकारद्वयेन, भिन्नान्=विभक्तान्, समुद्रफेनान्=रत्नाकरफेनान्, पश्य=विलकोय। ये=फेनाः, एषां=हस्त्याकारग्राहाणां, कपोलसंसर्पितया=गण्डस्थलसंसर्पणेन, कर्णक्षणचामरत्वं=श्रोत्रेषु कञ्चित्कालं प्रकीर्णकभावं, व्रजन्ति=प्राप्नुवन्ति॥ ११॥

भावार्थः—हे सीते! अतर्कितरूपेणोत्पतनं कुर्वद्भिर्हस्त्याकारैर्ग्राहैर्भागद्वयेन विभक्ताः फेनास्तेषां कपोलसंसर्पणेन कर्णयोश्चामरसदृशाः प्रतीयन्ते॥

अनुवादः—हे सीते! सहसा उछलते हुए हाथी-सरीखे ग्राहोंसे दो भागोंमें विभक्त समुद्रके फेनोंको देखो। जो (फेन) उन ग्राहोंके कपोलोंके पास रहनेसे कानोंमें चँवरके समान प्रतीत हो जाते हैं॥ ११॥

टिप्पणी—सहसा="अतर्किते तु सहसा" इत्यमरः। उत्पतद्भिः=उत्पतन्तीति उत्पतन्तः, तैः उद्+पत्+लट् (शतृ)। मातङ्गनक्रैः=मतंगाकारा नक्राः मातंगनक्राः, तैः, यहाँ पर "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे मध्यमपदलोपी समास हो गया है।

"ग्राहोऽवहारो नक्रः स्यात्" इत्यमरः। हलायुधने स्थलमें जैसे मनुष्य आदि जीव होते हैं वैसे ही जलमें भी होते हैं ऐसा लिखा है :—

"यावन्तो दृश्यन्ते नरकरितुरगादयः स्थले जीवः।
तावन्तः सलिलेष्वपि जलपूर्वास्ते तु विज्ञेयाः॥"

इस कारण "मातंगनक्र" कहनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं। द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, ऐसा विग्रह कर द्विशब्दसे "संख्या विधाऽर्थे धा" इस सूत्रसे धाप्रत्यय हुआ है। यह अव्यय है। भिन्नान्=भिद्+क्तः। समुद्रफेनान्= समुद्रस्द फेनाः, तान् (ष० त०)। पश्य=दृश+लोट्+सिप्। कपोलसंस- र्पितया—संसर्पन्तीति तच्छीलाः संसर्पिणः, सम्—उपसर्गपूर्वक "सृप्लृ गतौ" धातुसे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे ताच्छील्यमें णिनिप्रत्यय हुआ है। 'संसर्पिणां भावः संसर्पिता' ऐसा विग्रह कर यहाँ पर संसर्पिन् शब्दसे "तस्य भावस्त्वतलौ" इस सूत्रसे तल् प्रत्यय होकर "अजाद्यतष्टाप्" इस सूत्र- से टाप् प्रत्यय हो गया है। कपोलयोः संपर्पिता, तया (स० त०), "हेतौ" इति तृतीया। कर्णक्षणचामरत्वं—चामराणां भावः चामत्वम् रचामर+त्व। क्षणं चामरत्वं, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे च" इस सूत्रसे अत्यन्त संयोगमें द्वितीया होकर "अत्यन्तसंयोगे च" इस सूत्रसे द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। कर्णयोः क्षणचामरत्वं, तत् (स० त०)। व्रजन्ति=(व्रज) "व्रज गतौ" धातुसे लट्। इस श्लोकमें उपमा अलंकार और उपजाति वृत्त है॥ ११॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः॥ १२॥

अन्वयः—वेलाऽनिलाय प्रसृताः महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः एते भुजङ्गाः सूर्याऽशुसम्पर्कसमृद्धरागैः फणस्थैः मणिभिः व्यज्यन्ते॥ १२॥

व्याख्या—वेलाऽनिलाय=समुद्रतीरवायुं पातुं, प्रसृताः=निर्गताः, महो- र्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः=विशालतरङ्गोद्रेकभेदरहिताः, एते=इमे, भुजङ्गाः= सर्पाः, सूर्याऽशुसम्पर्कसमृद्धरागैः=रविकिरणसम्बन्धविवृद्धकान्तिभिः, फणस्थैः =फटास्थितैः, मणिभिः=रत्नैः, व्यज्यन्ते=उन्नीयन्ते, ज्ञायन्त इति भावः॥

भावार्थः—हे सीते! समुद्रतटे वायुं पातुं निर्गता विशालतरङ्गाकारा एते सर्पाः सूर्यकिरणसम्पर्केण प्रवृद्धकान्तिभिः फणास्थितैर्मणिभिः परिचीयन्ते॥

अनुवादः—हे सीते ! समुद्रतीरकी वायुको पीनेके लिए निकले हुए विशाल तरङ्गोंके आधिक्यके सदृश ये सर्प सूर्यकिरणोंके सम्पर्कसे बढ़ी हुई कान्तिवाले फणाओंमें विद्यमान रत्नोंसे पहचाने जाते हैं ॥ १२ ॥

टिप्पणी—वेलाऽनिलाय=वेलायाम् अनिलः, तस्मै (स० त०), यहाँ-पर "क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्रसे चतुर्थी हुई है। प्रसृताः प्र+सृ+क्तः। महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः+महत्यश्च ता ऊर्मयः महोर्मयः (क० धा०) यहाँपर "आन्महतः समानाऽधिकरणजातीययोः" इस सूत्रसे 'महत्' शब्दका आत्व हुआ है। विस्फूर्जनं विस्फूर्जथुः, यहाँपर वि उपसर्गपूर्वक ("टुओ) स्फूर्जा-व्रज्रविर्घोषे" इस धातुसे "ट्वितोऽथुच्" इस सूत्रसे "अथुच्" प्रत्यय हो गया। यद्यपि धातुके अर्थके अनुसार "विस्फूर्जथु" पदका अर्थ वज्रनिर्घोष होना इष्ट था परन्तु "उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते" इस उक्तिके अनुसार वि उपसर्गके योगके कारण इसका अर्थ हुआ उद्रेक अर्थात् आधिक्य। महोर्मीणां विस्फूर्जथुः (ष० त०)। निर्गतः विशेषः (भेदः) येभ्यस्ते निर्विशेषाः (बहु०)। यद्वा विशेषात् (भेदात्) निर्गताः यहाँपर "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इस वार्तिकसे प्रादिसमास हुआ है। महो-र्मिविस्फूर्जथोः निर्विशेषः (ष० त०)।

सूर्यांऽशुसम्पर्कसमृद्धरागैः=सूर्यस्य अंशवः (ष० त०), तेषां सम्पर्कः (ष० त०), समृद्धो रागो येषां ते (बहु०) सूर्यांऽशुसम्पर्केण समृद्धरागाः, तैः (तृ० त०)। फणस्थैः=फणेषु तिष्ठन्ति फणस्थाः तैः, यहाँ पर "सुपिस्थः" इस सूत्रसे कप्रत्यय हो गया है। "स्फटायां तु फणा द्वयोः"। इत्यमरः। "स्फटा" और "फण" शब्द पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों लिङ्गोंमें हैं। उन्नीयन्ते=उद्-उपसर्गपूर्वक "णीञ् (नी) प्रापणे" धातुसे कर्ममें लट्। यहाँपर भी उद्-उपसर्गके कारण धात्वर्थका अर्थान्तर हो गया है।

वायुपान करनेके लिए निकले हुए बड़े-बड़े सर्पोंका समुद्रकी विशाल तरङ्गोंसे भेद करना सम्भव नहीं था पर सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे उनकी फणास्थित मणियोंकी कान्ति बढ़नेसे ये सर्प हैं ऐसा मालूम पड़ गया, यह इसका तात्पर्य है। अतएव यहाँपर "पूर्वरूप" अलंकार है। इसका लक्षण चन्द्रा-लोकमें ऐसा है—'पुनः स्वगुणसंप्राप्तिर्विज्ञेया पूर्वरूपता।' छन्द उपजाति है ॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत् सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित् [1]क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥

अन्वयः—(हे सीते !) तव अधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु सहसा ऊर्मिवेगात् पर्यस्तम् ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखम् एतत् शङ्खयूथं कथञ्चित् क्लेशात् अपक्रामति ॥

व्याख्या—(हे सीते !) तव = भवत्याः अधरस्पर्धिषु = ओष्ठसङ्घर्षिषु, अधरसदृशेष्विति भावः । विद्रुमेषु = प्रवालेषु, सहसा = अतर्कितरूपेण, ऊर्मि-वेगात् = तरङ्गजवात्, पर्यस्तं = प्रोत्क्षिप्तम्, ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं = विद्रुमप्ररोहस्यूतमुखम्, एतत् = इदं, शङ्खयूथं = कम्बुवृन्दं, कथञ्चित् = केनाऽपि प्रकारेण, क्लेशात् = कृच्छ्रात्, अपक्रामति = गच्छति, विलम्ब्याऽपसरतीति भावः ॥

भावार्थः—हे सीते ! तवाऽधरसदृशेषु प्रवालेषु तरङ्गवेगात्सहसा प्रोत्क्षिप्तं विद्रुमाऽङ्कुरैः स्यूतवदनम् एतच्छङ्खवृन्दं विलम्ब्याऽपसरति ॥ १२ ॥

अनुवादः—हे सीते ! तुम्हारे अधर के सदृश मूंगाओं में सहसा तरङ्गोंके वेगसे ऊपर आया हुआ और मूँगाओंके अंकुरोंसे मुखमें आवृत यह शङ्खसमूह विलम्ब कर हट जाता है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अधरस्पर्धिषु = अधरेण स्पर्धन्ते तच्छीलाः, तेषु, यहाँ पर अधर उपपदपूर्वक "स्पर्ध संघर्षे" इस धातुसे ताच्छील्यमें णिनि हुआ है, उप-पदसमास । ऊर्मिवेगात् = ऊर्मीणां वेगः तस्मात् (ष० त०) 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा" इत्यमरः । पर्यस्तं = परि + अस् + क्तः । ऊर्ध्वाऽकुरप्रोतमुखम् = ऊर्ध्वाश्च ते अंकुराः (क० धा०), प्रोतानि मुखानि यस्य तत् (बहु०) प्र—वेञ् + क्तः = प्रोतम् । ऊर्ध्वांकुरैः प्रोतमुखम् (तृ० त०) । शङ्खयूथं = शङ्खानां यूथम् (ष० त०) । अपक्रामति = अप—उपसर्गपूर्वक "क्रमु पाद-विक्षेपे" इस धातुसे लट् । श्यन्के अभावपक्षमें "क्रमः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे दीर्घ हो गया है । इस श्लोकमें उपमा अलंकार और उपजाति छन्द है ॥१३॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद् भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४॥

---

1. "कष्टात्" इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः—(हे सीते !) पयांसि पातुं प्रवृत्तमात्रेण आवर्तवेगात् भ्रमता घनेन अयं[1] समुद्रः भूयो गिरिणा प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठम् आभाति ॥ १४ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) पयांसि=जलानि, पातुं=पानं कर्तुं प्रवृत्त-मात्रेण=आरभमाणेन एव, आवर्तवेगात्=जलभ्रमजवात्, भ्रमता=भ्रमणं कुर्वता, घनेन=मेघेन, अयम्=सन्निकृष्टस्थः, समुद्रः=सागरः, भूयः=पुन-रपि, गिरिणा=पर्वतेन, मन्दरेणेति भावः। प्रमथ्यमान इव=क्रियमाणमथन इव, भूयिष्ठम्=अत्यन्तम्, आभाति=साऽतिशयं शोभते ॥ १४ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! जलं ग्रहीतुमारभमाणेनैव परमावर्तजवाद् भ्राम्यता मेघेनायं समुद्रः पुनरपि मन्दराऽचलेन मथ्यमान इव प्रतीयते ॥ १४ ॥

अनुवादः—हे सीते ! जल पीनेके लिए आरम्भ करते हुए परन्तु भँवर-के वेगसे घूमते हुए मेघसे यह समुद्र फिर से मन्दर पर्वतसे मथे जाते हुएके समान प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—पयांसि="पातुम्" इसका कर्म है "पयः कीलालममृतम्" इत्यमरः। पातुं="पा पाने" धातुसे "समानकर्तृकेषु तुमुन्" इस सूत्रसे तुमुन् प्रत्यय हो गया है, यह अव्यय है। प्रवृत्तमात्रेण—प्र+वृत्+क्तः=प्रवृत्तः। प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रः, तेन, यहाँ पर "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे रूपक समास हुआ है। यह "घनेन" इस पदका विशेषण है। आवर्तवेगात्= आवर्तस्य वेगः, तस्मात् (ष० त०), हेतौ पञ्चमी। "स्यादावर्तोम्भसां भ्रमः" इत्यमरः। भ्रमता=भ्रमतीति भ्रमन्, तेन, यहाँपर "भ्रमु चलने" इस भ्वादि धातुसे लट्के स्थानमें शतृ आदेश हुआ है। यह भी "घनेन" इस पदका विशे-षण है। भूयः=यह अव्यय है। प्रमथ्यमानः=प्रमथ्यत इति, प्र—उपसर्ग-पूर्वक "मन्थ विलोडने" धातुसे कर्ममें लट् होकर उसके स्थानमें शानच् होकर यक् और "आने मुक्" इस सूत्रसे मुक् आगम होकर यह पद बनता हैं। भूयिष्ठम्=अतिशयेन बहु यहाँपर "बहु" शब्दसे "अतिशायने तमबि-ष्ठनौ" इस सूत्रसे इष्ठन् प्रत्यय होकर "बहोर्लोपो भू च बहोः" इससे 'बहु' के स्थानमें 'भू' आदेश हुआ और "इष्टस्य यिट् च" इससे यिट् आगम हुआ

१. "इत" इति पाठान्तरम्।

है। आभाति=आङ्-उपसर्गपूर्वक "भा दीप्तौ" धातुसे लट्। इस श्लोकमें प्रकृत घनरूप उपमेयका अप्रकृत गिरिरूप उपमानसे संभावना करनेके कारण और उत्प्रेक्षाद्योतक "इव" के रहनेसे "वाक्योत्प्रेक्षा" अलंकार है। इसका लक्षण साहित्यदर्पणमें इस प्रकार दिया है--

"भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य पराऽऽत्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता॥"

छन्द उपजाति है॥ १४॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा॥१५॥

अन्वयः--अयश्चक्रनिभस्य लवणाऽम्बुराशेः दूरात् तन्वी तमालतालीवनराजिनीला वेला धारानिबद्धा कलङ्करेखा[1] इव आभाति॥ १५॥

व्याख्या--(हे सीते !) अयश्चक्रनिभस्य=लोहचक्रसदृशस्य, लवणाऽम्बुराशेः=समुद्रस्य, दूरात्=विप्रकृष्टात्, तन्वी=कृशा, तमालतालीवनराजिनीला=तापिच्छतालवनपंक्तिनीला, वेला=तीरभूमिः, धारानिबद्धा=चक्राऽऽश्रिता, कलंकरेखा इव=मालिन्यलेखा इव, आभाति=आदीप्यते॥

भावाऽर्थः--हे सीते ! लोहचक्रसमानस्य समुद्रस्य दूरादणुत्वेनाऽवभासमाना तमालाऽऽदिवनपंक्तिनीला तीरभूमिः चकाश्रिता मालिन्यरेखा इव प्रतीयते।

अनुवादः--हे सीते ! लौहचक्रके सदृश समुद्रकी दूरीके कारण पतली-सी तमालोंकी और तालोंकी वनपंक्तिसे नीलवर्णवाली तीरभूमि लौहचक्रमें निबद्ध कलंकरेखाके समान प्रतीत हो जाती है॥ १५॥

टिप्पणी--अयश्चक्रनिभस्य=अयसः चक्रं (ष० त०)। तेन सदृशः अयश्चक्रनिभः, तस्य (तृ० त०)। अस्वपदविग्रहके कारण यह नित्य समास है। "निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः।" इत्यमरः। लवणाम्बुराशेः--अम्बूनां राशिः (ष० त०)। लवणश्चासौ अम्बुराशिः, तस्य (क० धा०)। दूरात्--हेतौ पञ्चमी। "स्याद् दूरं विप्रकृष्टकम्" इत्यमरः।

तन्वी=तनु शब्दसे "वोतो गुणवचनात्" इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय विकल्पसे हुआ है: अतः एक पक्षमें "तनुः" ऐसा भी होता हैं। तमालतालीवनराजिनीला-

---

१. "लेखा" इति पाठान्तरम्।

तमालाश्च ताल्यश्च तमालताल्यः, यहाँपर "चार्थे द्वन्द्वः" इस सूत्रसे इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास हुआ है। "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" इस सूत्रसे परपद ताली के अनुसार स्त्रीलिङ्ग हुआ है। तमालतालीनां वनानि (ष०त०) तेषां राजयः (ष०त०), "वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिश्रेणीलेखास्तु राजयः।" इत्यमरः। तमालतालीवनराजिभिः नीला (तृ० त०)। धारानिबद्धा = धारायां निबद्धा (स० त०)। कलंकरेखा = कलंकस्य रेखा। "मालिन्यलेखां तु कलंकमाहुः" इति दण्डी। इस श्लोकमें "चक्रनिभस्य" इस पदसे उपमा और वेला (समुद्रतीरभूमि) में कलंकरेखाकी संभावना करनेसे उत्प्रेक्षा (वाच्य) और पूर्वोक्त दोनों अलङ्कारोंकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलङ्कार है। संसृष्टिका लक्षण साहित्यदर्पणमें इस प्रकार दिया है—

"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते"।

उपजातिवृत्त है,

इस श्लोकके अनन्तर किसी पुस्तकमें निम्नस्थ श्लोक दिया है—

"निस्त्रिंशकल्पस्य निधेर्जलानामेषा तमालद्रुमराजिनीला।
दूरादरालभ्रु विभाति वेला कलंकलेखामलिनेव धारा"॥ १५॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम्॥ १६॥

अन्वयः—हे आयताऽक्षि! वेलाऽनिल केतकरेणुभिः ते आननं-संभावयति। बिम्बाधरबद्धतृष्णं मां मण्डनकालहानेः अक्षमं वेत्ति इव॥ १६॥

व्याख्या—हे आयताऽक्षि = हे विशाललोचने सीते! वेलाऽनिलः = समुद्रतीरवायुः, केतकरेणुभिः = केतकीपुष्परागैः, ते = तव, आननं = मुखं, संभावयति = अलंकरोति, किमर्थमित्युत्प्रेक्षते—बिम्बाधरबद्धतृष्णं = बिम्बोष्ठपानलालसं, मां = रामं, मण्डनकालहानेः = अलंकरणसमयहानेः, अक्षमम् = असहमानं, वेत्ति इव = जानाति इव, नो चेत्कथं संभावयेदिति भावः॥ १६॥

भावार्थः—हे विशाललोचने! सागरतीरवातः त्वद्बिम्बाऽधरपाने लालसं मामाभरणक्रियाविलम्बमसहमानं जानन्निव केतकीपुष्पपरागैस्त्वदीयं मुखमलंकरोति॥ १६॥

अनुवादः—हे विशाललोचने सीते ! समुद्रतटका वायु तुम्हारे विम्बाधरके पानमें लालस मुझको आभरण-क्रियासे विलम्बको न सहनेवाला जानते हुएके समान होकर केतकीपुष्पके परागोंसे तुम्हारे मुखको अलंकृत कर रहा है ।१६।

टिप्पणी—आयताऽक्षि–आयते अक्षिणी यस्याः सा आयताक्षी तत्सम्बुद्धौ (बहु०), यहाँ पर "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वांगात्षच्" इस सूत्र से समासाऽन्त षच् (अ) प्रत्यय हुआ है, षित् होनेके कारण स्त्रीत्वविवक्षामें "षिद्गौरादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय होकर "आयताक्षी" शब्द "यूस्त्र्याख्यौ नदी" इस सूत्रसे नदीसंज्ञक हुआ है, अत एव सम्बुद्धि (सम्बोधनमें प्रथमाके एकवचन) में "अम्बाऽर्थनद्योर्ह्रस्वः" इससे ह्रस्व हुआ है । वेलाऽनिलः= वेलायाम् अनिलः (स० त०), "वेला स्यात्तीरनीरयोः इति विश्वः । केतकरेणुभिः=केतकस्य रेणवः तैः (ष० त०) । ते=युष्मद्शब्दकी षष्ठी विभक्तिके एकवचन 'तव' के स्थानमें "तेमयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे "ते" आदेश हो गया है । संभावयति=सं+भू+णिच्+लट्+तिप् । विम्बाऽधरवद्धतृष्णं= विम्बम् इव अधरः विम्बाऽधरः, यहाँ पर "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे उपमानपूर्वपद-कर्मधारय समास हुआ है । अत एव उपमा अलंकार है । बद्धा तृष्णा येन स बद्धतृष्णः (बहु०) बिम्बाधरे बद्धतृष्णः तम् (स० त०) । मण्डनकालहानेः कालस्य हानिः (ष० त०), मण्डनेन कालहानिः, तस्याः (तृ० त०) यहाँपर "असहमानम्" इस पदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी हुई है । वेत्ति="विद ज्ञाने" धातुसे लट् "विदो लटो वा" इस सूत्रसे णल् होकर एक पक्ष में "वेद" ऐसा भी रूप बन जाता है । "वेत्ति इव" यहाँ पर क्रियोत्प्रेक्षा है । इस प्रकार यहाँपर उपमा और उत्प्रेक्षा की निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार और इन्द्रवज्रा वृत्त है ।। १६ ।।

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ।। १७ ।।

अन्वयः—एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं फलाऽऽवर्जितपूगमालं पयोधेः कूलं विमानवेगात् मुहूर्तेन प्राप्ताः ।। १७ ।।

व्याख्या–(हे सीते !) एते=इमे, वयं=रामादयः, सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं=सिकतामयस्फुटितशुक्तिपरिक्षिप्तमौक्तिकसमूहं, फलाऽऽवर्जित-

पूगमालं=फलाऽऽनमितक्रमुकपंक्ति, पयोधेः=समुद्रस्य, कूलं=तीरं,, विमान-वेगात्=व्योमयानजवात्, मुहूर्तेन=अल्पकालेन, प्राप्ताः=आसादिताः ॥१६॥

भावार्थः—हे सीते! एते वयं सैकतेषु स्फुटितशुक्तिभिः परिक्षिप्त-मुक्तापटलोपेतं फलानमितक्रमुकपंक्तियुक्तं समुद्रतटं पुष्पकवेगादल्पेनैव कालेन संप्राप्ताः ॥ १७ ॥

अनुवादः—हे सीते ! ये हमलोग बालुओं में फूटी हुई सीपोंसे बिखरे हुए मुक्तासमूहवाले और फलोंसे झुकाये गये सुपारीके पेड़ोंकी कतारवाले समुद्रको विमानके वेगसे एक ही मुहूर्त (दो घड़ियों) में पहुँच गये ॥ १६ ॥

टिप्पणी—एते=समुद्रतटके समीपवर्ती होनेसे "समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्" इस उक्तिके अनुसार अपने लिए श्रीरामचन्द्रजी "एतद्" का प्रयोग कर रहे हैं। सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं=सिकताः सन्ति येषु तानि सैक-तानि, यहाँ पर "सिकताशर्कराभ्यां च" इस सूत्रसे मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होकर "तद्धितेष्वचामादेः" इससे आदिवृद्धि होकर ऐसा रूप बना है। सिकता (वालू) वाले स्थान को "सैकत" कहते है। "सैकतं सिकतामयम्" इत्यमरः। सैकतेषु भिन्नाः (स० त०)। सैकतभिन्नाश्च ताः शुक्तयः (क० धा०) "मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः" इत्यमरः। शुक्ति कहते हैं सीपको। मुक्तानां पटलानि (ष०-त०) सैकतभिन्नशुक्तिभिः पर्यस्तानि (तृ० त०)। परि+अस्+क्त=पर्यस्तम्। सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तानि मुक्तापटलानि यस्मिन्, तत् (बहु०)। फलावर्जि-तपूगमालं=फलैः आवर्जिताः (तृ० त०) पूगानां मालाः (ष० त०) फलाऽऽ-वर्जिताः पूगमालाः, यस्मिन् स पयोधिः, तस्य, यहाँ पर पयस्-उपपदपूर्वक "(डु) धाञ् धारणपोषणयोः" धातुसे "कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्रसे अधि-करणमें किप्रत्यय हो गया है, पयस्+धा+किः=पयोधिः। विमानवेगात्= विमानस्य वेगः, तस्मात् (ष० त०), हेतौ पञ्चमी। मुहूर्तेन=यहाँ पर "अपवर्गे तृतीया" इस सूत्रसे अपवर्ग (फलप्राप्ति) अर्थमें तृतीया विभक्ति हुई है। ६० पलों से १ घटी (घड़ी) होती है, आधुनिक हिसाबसे २४ मिनटोंमें १ घड़ी होती है। दो घड़ियोंसे १ मुहूर्त होता है। प्राप्ताः=प्र+आप्+ क्तः (कर्तरि)। इसमें छन्द उपजाति है ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपादम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे करभोरु ! हे मृगप्रेक्षिणि तावत् पश्चात् मार्गे दृष्टिपातं कुरुष्व । एषा सकानना भूमिः विदूरीभवतः समुद्रात्[1] निष्पतति इव ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे करभोरु = हे करभसमानोरुसम्पन्ने, हे मृगप्रेक्षिणि ! = हे हरिणलोचने । (सीते !) तावत्, पश्चात् = लङ्घिते, मार्गे = पथि, दृष्टिपातं = नेत्रप्रेरणं, कुरुष्व = विधेहि । एषा = इय, सकानना = वनसहिता, भूभिः = पृथिवी, विदूरीभवतः = विप्रकृष्टीभवतः, समुद्रात् = सागरात्, निष्पतति इव = निष्क्रामति इव ॥ १८ ॥

भावार्थः—हे सीते ! साम्प्रतं त्वं लङ्घिताऽध्वनि दृष्टिपातं विधेहि । सहवना एषा पृथ्वी विदूरीभवतः समुद्रात् निष्क्रमतीव प्रतीयते ॥ १६ ॥

अनुवादः—हे करभके समान ऊरुओंवाली चञ्चलनयने सीते ! तुम पीछे के मार्गमें दृष्टिपात करो । वनके साथ यह भूमि दूर होनेवाले समुद्रसे जैसे निकल रही है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—हे करभोरु = करभौ इव ऊरू मस्याः सा करभोरूः तत्सम्बुद्धौ (वहु०) । यहाँपर ऊरु—उत्तरपदवाले "करभ" शब्दसे "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इस सूत्रसे ऊङ् प्रत्यय हुआ है । "मणिवन्धादाकनिष्ठकरस्य करभो वहिः ।" इत्यमरः । हाथके मणिबन्धसे कनिष्ठापर्यन्त बाहरी भागको "करभ" कहते हैं । करभके समान सुडौल ऊरुओंसे युक्त स्त्री को "करभोरू" कहते हैं । हे मृगप्रेक्षिणि = मृगवत् प्रेक्षते तच्छीला मृगप्रेक्षिणी, तत्सम्बुद्धौ, मृग + प्र + ईक्ष + णिनिः । उपपद० । दृष्टिपातं = दृष्टयोः पातः, तम् (ष० त०) । यह "कुरुष्व इसका कर्म है । कुरुष्व—"(डु) कृञ् करणे" धातुके लोट्के मध्यमपुरुषके थास्का रूप है । सकानना—काननेन सहिता (तुल्ययोगबहु०) । विदूरीभवतः—अविदूरो विदूरो यथा सम्पद्यते तथा भवन् विदूरीभवन्, तस्मात्, यह "समुद्रात्" इस पदका विशेषण है । "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" इस सूत्रसे "च्वि" प्रत्यय और "अस्य च्वौ" इस सूत्रसे अवर्णको ईत्व हुआ है । विदूर + च्वि + भू + लट्

१. "निःसरति" इति पाठान्तरम् ।

(शतृ) निष्पतति–निर् उपसर्गपूर्वक "पत्लृ पतने" धातुसे लट् हुआ है। इस श्लोकमें "करभोरु" और "मृगप्रेक्षिणि" यहाँपर उपमाद्वय और "निष्पतति इव" यहाँपर संभावना होनेसे "उत्प्रेक्षा" अलंकार और पूर्वोक्त इन अलंकारों की निरपेक्षतया स्थिति रहनेसे संसृष्ट अलंकार है। छन्द उपजाति है ॥१८॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्त्तते पश्य तथा विमानम् ॥१९॥

अन्वयः—(हे सीते !) विमानं मे मनसः अभिलाषो यथाविधः प्रवर्तते तथा क्वचित् सुराणां पथा क्वचित् घनानां क्वचित् [1]पततां पथा च सञ्चरते। पश्य ॥ १९ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) विमानं=व्योमयानं, पुष्पकमिति भावः, मे=मम, मनसः=चित्तस्य, अभिलाषः=कामः, यथाविधः=यादृशः, प्रवर्तते=प्रवृत्तो भवति। तथा=तेन प्रकारेण, क्वचित्=कुत्रचित्, सुराणां=देवानां, पथा=मार्गेण, घनानां=मेघानां, क्वचित्,=कुत्रचित्, पततां=पक्षिणां, पथा च=मार्गेण च, सञ्चरते=उड्डीयते, पश्य=विलोकय ॥ १९ ॥

भावार्थः–हे सीते ! पुष्पकं मदभिलाषमनुसृत्य क्वचिद् देवानां कुत्रचिन्मेघानां कुत्रचित् पक्षिणां मार्गेण चोड्डीयते, विलोकय ॥ १९ ॥

अनुवादः—हे सीते ! पुष्पक विमान मेरे मनकी इच्छाके अनुसार कहीं देवताओंके, कहीं मेघोंके और कहीं पक्षियोंके मार्गसे चला जा रहा है, देखो ॥

टिप्पणी—मे=अस्मद् शब्दकी षष्ठीके एकवचन "मम" के स्थानमें "तेमयावेकवचनस्य" इस सूत्रसे "मे" आदेश हुआ है। अभिलाषः=अभिलषणम्, "भावे;' इस सूत्रसे "अभि" उपसर्गपूर्वक "लष कान्तौ" धातुसे घञ् प्रत्यय हुआ है। "कामोऽभिलाषस्तर्षश्च'; इत्यमरः। यथाविधः=यथा विधा (प्रकारः) यस्य सः (बहु०) तथा=तेन प्रकारेण, यहाँपर 'तद्' शब्दसे "प्रकारवचने थाल्" इस सूत्रसे 'थाल्" प्रत्यय हुआ है। यह पद अव्यय है। पततां=पतन्तीति पतन्तः, तेषां, "पत्लृ पतने" धातुसे लट्के स्थानमें शतृ प्रत्यय हुआ है। "पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाऽण्डजाः।" इत्यमरः। सञ्चरते='सम्'—उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक "चर" धातुसे "समस्तृतीयायुक्तात्" इस सूत्रसे आत्मने-

---

१. "मरुताम्" इति पाठान्तरम्।

पद हुआ है। पश्य—यहाँपर दर्शनक्रियाका कर्म वाक्यार्थ है। यहाँपर "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ"; इस लक्षणके अनुसार उपेन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

अन्वयः—(हे सीते !) [1]महेन्द्रद्विपदानगन्धिः त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः असौ आकाशवायुः दिनयौवनोत्थान् ते मुखे स्वेदलवान् आचामति ॥ २० ॥

व्याख्या—(हे सीते !) महेन्द्रद्विपदानगन्धिः=ऐरावतमदगन्धिः, त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः=आकाशगङ्गासम्पर्कशीतलः, असौ=अयम्, आकाशवायुः=व्योयवातः, दिनयौवनोत्थान्=मध्याह्नोत्पन्नान्। ते=तव, मुखे आनने, स्वेदलवान्=श्रमजलकणान्, आचामति = भक्षयति, हरतीति भावः ॥ २० ॥

भावार्थः—हे सीते ! ऐरावतमदगन्धिः आकाशगङ्गातरङ्गशीतलः आकाशवातो मध्याह्नसंभवान् त्वन्मुखे सलिलकणान् हरति ॥ २० ॥

अनुवादः—हे सीते ! ऐरावतके मदके समान सुगन्धवाला, आकाशगङ्गाकी तरङ्गोंके सम्पर्कसे ठण्डा यह आकाशवायु मध्याह्नमें उत्पन्न तुम्हारे मुखसे पसीनोंको सुखा रहा है ॥ २० ॥

टिप्पणी—महेन्द्रद्विपदानगन्धिः=महांश्चाऽसौ इन्द्रः, यहाँ पर "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः" इस सूत्रसे कर्मधारय समास हुआ है। 'महत्' शब्दका "आन्महतः समानाऽधिकरणजातीययोः" इस सूत्रसे आत्व भी हो गया है। द्वाभ्यां (मुखशुण्डाभ्याम्) पिबतीति द्विपः. यहाँपर द्वि-उपपदपूर्वक "पा पाने" धातुसे "सुपि स्थः" यहां पर योगविभाग करके कप्रत्यय हुआ है। "दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः।" इत्यमरः। महेन्द्रस्य द्विपः (ष० त०), तस्य दानं महेन्द्रद्विपदानम् (ष० त०)। महेन्द्रद्विपदानस्य इव गन्धो यस्य सः, यहां पर "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण (अप्रथमान्त और प्रथमान्तपदवाला) बहुव्रीहि समास हुआ है, और "उपमानाच्च" इससे समासाऽन्त (समासका अन्ताऽवयव) इ प्रत्यय हुआ है। त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः=त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा

---

१. "महेन्द्रद्विपदानगन्धी" "सुरेन्द्रद्विपदानगन्धीः". चेति पाठान्तरे।

यहाँ पर "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपद समास हुआ है। "भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि" इत्यमरः। गङ्गाजी स्वर्ग, मर्त्य और पातालके मार्गोंसे चलती हैं इसलिए उनको "त्रिमार्गगा" त्रिपथगा" और "त्रिस्रोता" भी कहते हैं। त्रिमार्गगाया वीचयः (ष० त०), तासां विमर्दः (ष० त०) तेन शीतः (तृ० त०)। आकाशवायुः—वातीति वायुः, "वा गतिगन्धनयोः" इस धातुसे "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्" इस औणादिक सूत्रसे उण् प्रत्यय और "आतो युक् चिण्कृतोः" इस सूत्रसे युक् आगम होकर "वायु" पद सिद्ध होता है। आकाशे वायुः (स० त०)। दिनयौवनोत्थान्= दिनस्य यौवनं, (ष० त०), यहाँ पर 'यौवनं' पदसे यौवनकाल लक्षित होता है, अतः "दिनयौवन" पदका अर्थ हुआ मध्याह्नकाल। दिनयौवने उत्तिष्ठन्तीति दिनयौवनोत्थाः तान् दिनयौवन+उद्+स्था+कः। स्वेदलवान्= स्वेदस्यलवाः, तान् (ष० त०) "स्त्रियां मात्रा त्रुटिः पुंसि लवलेशकणाऽणवः।" इत्यमरः। लट्। "ष्ठिवुक्लमुचमां शिति" इस सूत्रसे "आङि 'चम' इति वक्तव्यम्" इस वार्तिकके नियमसे दीर्घ हुआ है। यद्यपि आचमनका अर्थ खाना है तथाऽपि लक्षणासे यहाँ पर 'हरण करना' यह अर्थ है। इस श्लोकसे पुष्पक विमानका देवमार्ग-सञ्चार दिखलाया गया है। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। छन्द उपजाति ॥ २२ ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे चण्डि! कुतूहलिन्या त्वया वातायनलम्बितेन करेण स्पृष्टः उद्भिन्नविद्युद्वलयः घनः ते द्वितीयम् आभरणम् आमुञ्चति इव ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे चण्डि=हे कोपने, कुतूहलिन्या=कौतुकवत्या, विनोदार्थिन्येति भावः। त्वया=भवत्या, कर्त्र्या। वाताऽयनलम्बितेन=गवाक्षाऽवस्रंसितेन, स्पृष्टः=आमृष्टः, उद्भिन्नविद्युद्वलयः=विलसिततडित्कङ्कणः, घनः= मेघः, ते तव, द्वितीयम्=द्वयोः पूरणम्, आभरणम्=अलंकारं, वलयमिति भावः। आमुञ्चति इव=अर्पयति इव ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे कोपने सीते! विनोदाऽर्थिन्या त्वया गवाक्षाऽवस्रंसितेन करेण स्पृष्टा विद्युत्सहितो मेघस्ते द्वितीयं वलयमर्पयतीव ॥ २१ ॥

अनुवादः—हे कोपसम्पन्ने सीते ! कुतूहलके कारण तुमसे खिड़कीमें लटकाये हुए हाथसे स्पर्श करनेपर चमकती हुई विजलीरूप कंकणवाला मेघ तुम्हें मानो दूसरा कंकणरूप अलंकार देता है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—चण्डि = चण्डत इति चण्डी, तत्सम्बुद्धौ, यहांपर "चडि कोपे" धातुसे "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" इस सूत्रसे "चडि" धातुका पचादि गणमें पाठ होनेसे अच् प्रत्यय होकर "वह्वादिभ्यश्च" इस सूत्रसे ङीप् हुआ है। "चण्डी" पदसे तुम्हारी कोपशीलता से डरा हुआ मेघ शीघ्र तुमको छोड़ देगा ऐसा अर्थ व्यङ्ग्य होता है। कुतूहलिन्या = कुतूहलम् अस्ति यस्याः सा कुतूहलिनीं, तया, यहाँपर "कुतूहल" शब्दसे "अत इनिठनौ" इस सूत्रसे इनि-प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "ऋन्नेभ्यो ङीप्" इस सूत्रसे ङीप् (ई) प्रत्यय हो गया है। वाताऽयनलम्बितेन = वातस्याऽयनम् (ष० त०) "वाताऽयनं गवाक्षः" इत्यमरः। वाताऽयने लम्बितः, तेन (स० त०) करेण = "बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। स्पृष्टः = स्पृश + क्तः। उद्भिन्नविद्युद्वलयः = विद्युत् एव वलयम् (रूपक०)। उद्भिन्नं विद्युद्वलयं येन सः (बहु०)। द्वितीयं = द्वयोः पूरणं, तत्, यहाँपर द्विशब्दसे पूरण अर्थमें "द्वेस्तीयः" इससे "तीय" प्रत्यय हुआ है। आभरणम् = आङ् + भृञ् + ल्युट्। आमुञ्चति = यहाँपर आङ्–उपसर्गपूर्वक "मुच्लृ मोक्षणे' इस धातुसे लट् और "शे मुचादीनाम्" इस सूत्रसे नुम् आगम हो गया है। इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलंकार है। उपजातिवृत्त है॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि॥ २२॥

अन्वयः—अमी चीरभृतः जनस्थानम् अपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि चिरोज्झितानि आश्रममण्डलानि यथास्वम् अध्यासते ॥ २२ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) अमी=एते, चीरभृतः=वल्कलधारिणः, तापसा इति भावः। जनस्थानं = दण्डकारण्यभागम्, अपोढविघ्नम् = अपास्तविघ्नं, मत्वा = ज्ञात्वा, समारब्धनवोटजानि = प्रारब्धनूतनपर्णशालानि, चिरोज्झितानि = वहुसमयात् त्यक्तानि, राक्षसभयादिति भावः। आश्रममण्डलानि = आश्रमविभागान्, यथास्वं = स्वमनतिक्रम्य, अध्यासते = अधितिष्ठन्ति ॥२२॥

भावार्थः—हे सीते ! एते तापसा राक्षसनाशाद् दण्डकारण्यभागं विपद्रहितं ज्ञात्वा स्वं स्वमनतिक्रम्य नूतनाः पर्णशाला निर्मायाऽधितिष्ठन्ति ।।२२।।

अनुवादः—हे सीते ! ये वल्कलधारी (तपस्वीलोग) दण्डकारण्य भागको राक्षसोंके नाशसे निरुपद्रव जानकर नयी पर्णशालाओंसे युक्त पहले राक्षसोंके भयसे बहुत समयसे छोड़े गये अपने-अपने आश्रमोंमें रह रहे हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी—चीरभृतः=चीरं बिभ्रतीति, चीर+भृ+क्विप् । यहाँ पर चीर-उपपदपूर्वक भृञ् धातुसे 'क्विप् च' इस सूत्रसे क्विप् प्रत्यय होकर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इससे तुक् आगम हुआ है । जनस्थानं=जनानां स्थानं, तत् (ष० त०) । 'जनस्थान' दण्डकारण्यका एक भाग जो कि 'प्रस्रवण' पर्वतका निकटवर्ती है । अपोढविघ्नम्=अप+वह+क्तः=अपोढः । अपोढो विघ्नो यस्मात्, तत् (बहु०) । मत्वा=मन्+क्त्वा । समारब्धनवोटजानि—सम्=आङ्+रभ्+क्तः=समारब्धाः । समारब्धाः नवा उटजा येषु, तानि (बहु०) । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि–चिरात् उज्झितानि, तानि (ष० त०) । आश्रममण्डलानि=आश्रमाणां मण्डलानि, तानि (ष० त०) अधिपूर्वक आस् धातुके योगमें 'अधिशीङ् स्थाऽऽसां कर्म' इससे कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया विभक्ति हुई है । यथास्वं–स्वम् अनतिक्रम्य 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' इत्यादि सूत्रसे पदाऽर्थानतिवृत्तिरूप यथाके अर्थमें अव्ययीभाव समास हुआ है, यह क्रियाविशेषण है । अध्यासते=अधि–उपसर्गपूर्वक 'आस उपवेशने' धातुके लट्का बहुवचन है । छन्द उपजाति है ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥२३॥

अन्वयः—(हे सीते !) सा स्थली एषा यत्र त्वां विचिन्वता मया त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखात् इव बद्धमौनम् उर्व्यां भ्रष्टम् एकं नूपुरम् अदृश्यत ।२३।

व्याख्या–(हे सीते !) सा=पूर्वानुभूता, स्थली=अकृत्रिमभूमिः, एषा=समीपतरवर्तिनी, दृश्यत इति शेषः । यत्र=स्थल्यां, त्वां=भवतीं, विचिन्वता=अन्विष्यता, मया=रामेण, त्वच्चरणाऽरविन्दविश्लेषदुःखात् इव=त्वत्पादकमलवियोगक्लेशात् इव, बद्धमौनं=निःशब्दम्, उर्व्यां=पृथिव्यां, भ्रष्टम्=अधःपतितम्, एकं नूपुरं=पादाऽङ्गदम्, अदृश्यत=दृष्टम् ।। २३ ॥

भावार्थः—हे सीते ! इयं सा स्थली, यत्र त्वामन्विष्यता मया त्वच्चरण-वियोगदुःखादिव निःशब्दं भूपतितमेकं नूपुरं दृष्टम् ॥ २३ ॥

अनुवादः—हे सीते ! यह वह स्थली है, जहाँ पर तुमको ढूंढते हुए मैंने मानो तुम्हारे चरणकमलके वियोगके दुःखसे निःशब्द जमीन पर गिरे हुए एक नूपुर को देखा था ॥ २३ ॥

टिप्पणी—स्थली–स्थल शब्दसे अकृत्रिम अर्थसे 'जानपदकुण्डगोणस्थल०' इत्यादि सूत्रसे ङीष् प्रत्यय हुआ है । अकृत्रिम अर्थात् ऊबड़-खाबड़ जमीनको 'स्थली' कहते हैं 'अन्यलिङ्गी स्थलं स्थली' इत्यमरः । यत्र = यस्यामिति' यद् + त्रल् । विचिन्वता = विचिनोतीति विचिन्वन् तेन, वि + चिञ् + लट् (शतृ) = विचिन्वता । त्वच्चरणाऽरविन्दविश्लेषदुःखात् = चरणः अरविन्दम् इव चरणाऽरविन्दम्, यहाँ पर 'उपमितं व्याघ्राऽदिभिः सामान्याऽप्रयोगे' इस सूत्रसे उपमेय पूर्वपद कर्मधारय समास हुआ है । तव चरणाऽरविन्दं त्वच्च-रणाऽरविन्दम् (ष० त०), यहाँ पर उत्तर पदके परे रहते युष्मद् शब्दके स्थानमें 'त्वत्' आदेश हो गया है । त्वच्चरणाऽरविन्देन विश्लेषः (तृ० त०) । वि + श्लिष् + घञ् = विश्लेषः । त्वच्चरणाऽरविन्दविश्लेषेण दुःखं, (तृ० त०), तस्मात् हेतौ पञ्चमी । बद्धमौनं मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् 'मुनि' शब्दसे भाव वा कर्म के अर्थमें 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर 'मौन' शब्द सिद्ध होता है । 'अथ मौनमभाषणम्' इत्यमरः । बद्धं मौनं येन तत् (बहु०) । नूपुरके मौन होनेमें सीताके चरणकमलके वियोगका दुःख हेतु है इसलिए इस श्लोकमें हेतूत्प्रेक्षा है । भ्रष्टम् = (भृशु) 'भ्रंशु अधःपतने' धातुसे क्त प्रत्यय । नुपुरं–'पादाऽङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम् ।' इत्यमरः । अदृश्यत = दृश् + लङ् (कर्मणि) । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे[1] ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥२४॥

अन्वयः—हे भीरु ! त्वं रक्षसा यतः अपनीता, तं मार्गं वक्तुम् अशक्नु-वत्यः एता लता आवर्जितपल्लवाभिः शाखाभिः कृपया मे अदर्शयन् ॥ २४ ॥

---

१. 'ते' इति पाठान्तरम् ।

व्याख्या—हे भीरु=हे भयशीले सीते! त्वं=भवति, रक्षसा=राक्षसेन, रावणेनेति भावः। यतः=येन, मार्गेणेति शेषः। अपनीता=अपहृता, तं=तादृशं मार्गं=पन्थानं, वक्तुं=भाषितुम्, अशक्नुवत्यः=असमर्थाः, वागिन्द्रियाभावादिति शेषः। एताः=इमाः, लताः=वल्ल्यः, आवर्जितपल्लवाभिः=नमितकिसलयाभिः, पाणिस्थानीयाभिरिति शेषः। शाखाभिः=विटपैः' भुजस्थानीयैरिति शेषः। कृपया=दयया, मे=मम, कृते इति शेषः। अदर्शयन्=दर्शितवत्यः, असूचयन्नित्यर्थः ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे सीते त्वां रावणो येन मार्गेण अपाहरत् वागिन्द्रियाऽभावात्तं मार्गं कथयितुमसमर्था एता लता अवनमितकिसलयैर्विटपैर्मामदर्शन् ॥२४॥

अनुवादः—हे डरपोक सीते! रावण तुमको जिस मार्ग से ले गया उस मार्गको कहनेके लिए असमर्थ होती हुई इन लताओंने झुकते पल्लवोंवाली शाखाओंसे कृपापूर्वक मुझे दिखलाया ॥ २४ ॥

टिप्पणी—भीरु=बिभेतीति, तत्सबुद्धौ, यहाँपर "(ञि) भी भये" धातुसे "भियः क्रुक्लुकनौ" इस सूत्रसे क्रु प्रत्यय होकर "भीरु" पद बनता है, यह पद विशेष्यनिघ्न (विशेषण) है; इसलिए सम्बुद्धिमें "ह्रस्वस्य गुणः" इस सूत्रसे गुण होकर स्त्रीलिङ्गमें भी "हे भीरो" ऐसा रूप होना चाहिये था, परन्तु महाकविने भी शब्दको स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्ययान्त बनाकर सम्बुद्धि में "हे भीरु!" ऐसा लिख दिया है। महोपाध्याय कोलाचल मल्लिनाथजीने महाकविकी वकालत करते हुए "ऊङुतः" इस सूत्रसे भीरु शब्दसे ऊङ् होकर "भीरू" बनता है, तब "यूस्त्र्याख्यौ नदी" इससे नदीसंज्ञा होकर "अम्बाऽर्थनद्योर्ह्रस्वः" इस सूत्रसे ह्रस्व हुआ है ऐसा लिख दिया है। वास्तवमें भीरू शब्द मनुष्यजातिवाची नहीं है इसलिये सम्बुद्धिमें "भीरो" ही होना चाहिए। महाकवि इस प्रयोगके आदी हुए हैं, अतएव अन्यत्र भी उन्होने "विशङ्कसे भीरु! यतोऽवधीरणाम्।" इत्यादि प्रयोग किया है। "त्रस्नौ भीरुभीरुकभीलुकाः।" इत्यमरः। यतः=येन इति यहाँपर यद् शब्दसे "आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे सार्वविभक्तिक "तसि" प्रत्यय हुआ है। अपनीता=अप+नी+क्त+टाप्। अशक्नुवत्यः=नञ्+शक्+क्तवतु+ङीप्। लताः—

वल्ली तु व्रततिर्लता" इत्यमरः। आवर्जितपल्लवाभिः=आवर्जिताः पल्लवा याभिः ताभिः (बहु०)। "पल्लवोऽस्त्री किसलयम्" इत्यमरः। अदर्शयन् = दृश् + णिच् + लङ् + झिः। शाखाभिः = "शाखा वृक्षान्तरे भुजे" इति विश्वः।

प्राणिविशेष होनेके कारणसे लता-वृक्ष आदि में भी ज्ञान है, जैसा कि भगवान् मनुने बतलाया है—

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ॥
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥"

अर्थात् ये वृक्ष आदि भीतर चैतन्य रहनेके कारण सुख-दुःखवाले होते हैं। भारतीय वैज्ञानिकोंमें मूर्धन्य परलोकवासी जगदीशचन्द्र वसुने वैज्ञानिक प्रमाणों से भी वृक्षोंको प्राणी सिद्ध किया है। उपजाति वृत्त है ॥ ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं सम्बोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ।२५।

अन्वयः—(हे सीते) दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः मृग्यश्च उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः तव अगतिज्ञं मां सम्बोधयन् ॥२५॥

व्याख्या—(हे सीते !) दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः = तृणादिभक्ष्यनिःस्पृहाः, मृग्यश्च = हरिण्यश्च, उत्पक्ष्मराजीनि=उन्नताऽक्षलोमपङ्क्तीनि, विलोचनानि= नेत्राणि, दक्षिणस्याम् = अवाच्यां, दिशि = काष्ठायां, व्यापारयन्त्यः = प्रवर्तयन्त्यः सत्यः, तव = भवत्याः, अगतिज्ञं = गत्यनभिज्ञं, मां=रामं, सम्बोधयन्= सम्बोधितवत्यः नेत्रचेष्टया त्वद्गतिमबोधयन्निति भावः ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे सीते ! तृणभक्षणपराङ्मुख्यो मृग्यश्च दक्षिणस्यां दिशि नेत्राणि प्रवर्तयन्त्यः सत्यस्त्वद्गतिं मामबोधयन् ॥ २५ ॥

अनुवादः—हे सीते ! घास आदि भक्ष्य पदार्थमें इच्छा न रखने वाली मृगियोंने भी ऊँची पलकोंवाले नेत्रोंको दक्षिण दिशामें लगाकर तुम्हारी गतिके अनभिज्ञ मुझको समझाया ॥ २५ ॥

टिप्पणी—दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः = दर्भाणाम् अङ्कुराः (ष० त०)। विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षा, यहांपर "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे समास हुआ है। निर्गता व्यपेक्षा, यासां ताः (बहु०)। दर्भाङ्कुरेषु निर्व्यपेक्षाः (स० त०) "अस्त्री कुशंकुथो दर्भः" इस कोशके अनुसार दर्भका अर्थ कुश है। यहांपर

दर्भ पद घासका उपलक्षण है। मृग्यः='मृग' पदसे "पुंयोगादाख्यायाम्" इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है। उत्पक्ष्मराजीनि=पक्ष्मणां राजिः पक्ष्मराजिः (ष० त०), "पक्ष्माऽक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्य शेऽप्यणीयसि।" इत्यमरः। उन्नता पक्ष्मराजिर्येषां, तानि (बहु०) विलोचनानि=विशिष्टानि लोचनानि, तानि (गतिसमासः), यहाँ पर विशष्ट पदका अर्थ है विशाल। मृगके नेत्र बड़े होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। व्यापारयन्त्यः–वि=आङ्–पृ–णिच्+लट् (शतृ)+ङीष्। अगतिज्ञं–गतिं जानातीति गतिज्ञः, गति–उपपदपूर्वक "ज्ञा अवबोधने" धातुसे "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्रसे कप्रत्यय हुआ है (उपपद-समासः)। न गतिज्ञः तम् (नञ्)। सम्बोधयन्=सं+बुध्+णिच्+लङ्+झिः। इस श्लोकका उपजीव्य अंश रामायणमें ऐसा है—"एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः। दक्षिणाऽभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभऽस्थलम्॥ मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामभ्यपद्यतः। तेन मार्गेण गच्छन्तो निरीक्षन्ते पुनः पुनः॥" (अरण्यकाण्डः)। इस श्लोकमें सम्बोधन क्रियामें मृगीके विशेषणके तौरपर "व्यापारयन्त्यः" आदि अनेक पदार्थोंको हेतुत्वसे उपस्थित किया है अतः "काव्यलिङ्ग" अलंकार है। छन्द उपजाति है॥ २॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम्॥ २६॥

अन्वयः—(हे सीते!) माल्यवतो गिरेः अम्बरलेखि[1] एतत् शृङ्गम् पुरस्तात् आविर्भवति। यत्र घनैः नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगाऽश्रु च समं विसृष्टम्[2]॥२६॥

व्याख्या—(हे सीते!) माल्यवतः=माल्यवन्नामकस्य, गिरेः=पर्वतस्य, अम्बरलेखि=अभ्रङ्कषम्, एतत्=इदं, शृंगम्=शिखरं, पुरस्तात्=अग्रे, आविर्भवति=प्रादुर्भवति। यत्र=शृङ्गे, घनैः=मेघैः, नवं=नूतनं, पयः=जलं, मया=रामेण, त्वद्वियोगाऽश्रु च=त्वद्विरहनयनजलं च, समं=युगपत्, विसृष्टं=मुक्तम्, मेघदर्शनान्मया वर्षतुल्यमश्रुविमुक्तमिति भावः॥ २६॥

भावाऽर्थः—हे सीते! माल्यवतः पर्वतस्याऽभ्रङ्कषम् एतच्छिखरमग्र विलसति, यत्र मेघैर्नवं जलं मया त्वद्विरहाश्रु च युगपन्मुक्तम्॥ २६॥

---

१. "अम्बरलेढि" इति पाठान्तरम्।
२. "विमुक्तम्" इति पाठान्तरम्।

अनुवादः—हे सीते ! माल्यवान् पर्वतका आकाशको छूनेवाला जो यह शिखर आगे दिखाई पड़ रहा है; जहाँ पर मेघोंने नया जल और मैंने तुम्हारे विरहसे आँसू एक ही साथ छोड़ा था ।। २६ ।।

टिप्पणी—माल्यवतः = माल्य + मतुप् । अमरसिंहने—

"हिमवान्निषधो विन्ध्यो माल्यवान् पारियात्रकः ।
गन्धमादनमन्ये च हेमकूटादयो नगाः ।।"

हिमवान् (हिमालय) आदि पर्वतोंमें इसका भी परिगणन किया है। इसका आधुनिक नाम अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। अम्बरलेखि = अम्बरं लिखतीति तच्छीलम्, अम्बर + लिख + णिनिः (उपपद०) । पुरस्तात् = पूर्वस्मिन् इति ऐसा विग्रह कर पूर्व शब्दसे "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः" इस सूत्रसे अस्ताति प्रत्यय होकर "अस्ताति च" इस सूत्रसे पूर्वके स्थानमें "पुर" आदेश हो गया है। आविर्भवति = आविस् + भू + लट् + तिप् । यत्र = यद्–त्रल् । त्वद्विप्रयोगाश्रु = वि + प्र + युज् + घञ् विप्रयोगः । "विप्रलम्भो विप्रयोगः" इत्यमरः । तव विप्रयोगः त्वद्विप्रयोगः (ष० त०), तेन अश्रु (तृ० त०) । समम् = यह अव्यय है। विसृष्टम् = वि + सृज् + क्तः । यहाँपर विसर्जनक्रियामें "नव पय" और "अश्रु" का सहभाव होनेसे सहोक्ति अलंकार है। चन्द्रालोकमें इसका सोदाहरण लक्षण यह है-

"सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमद्यस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ।।"

छन्द उपजाति है ।। २६ ।।

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ।।२७।।

अन्वयः—(हे सीते !) यस्मिन् धाराऽऽहतपल्वलानां गन्धः अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं स्निग्धाः शिखिनां केकाश्च त्वया विना मे असह्यानि बभूवुः ।

व्याख्या—(हे सीते !) यस्मिन्—माल्यवतः शृंगे, धाराऽऽहतपल्वलानां वृष्टिधाराताडितानाम् अल्पसरसां, गन्धः = सौरभम्, अर्धोद्गतकेसरम् = अर्ध प्रादुर्भूतकिञ्जल्कं, कादम्बं = कदम्बपुष्पं, स्निग्धाः = मधुराः, शिखिनां = मयूराणां

केकाश्च=वाण्यश्च त्वया विना=भवत्या विना, मे=मम, असह्यानि=सोढुमशक्यानि, बभूवुः=सम्भूतानि ॥ २७ ॥

भावार्थः—हे सीते ! यत्र माल्यवत्कूटे वृष्टिजः पल्वलगन्धोऽर्धोत्पन्नकिञ्जल्कं नीपकुसुमं मधुराः केकाश्च त्वद्वियोगेन ममाऽसहनीयानि सञ्जातानि ॥

अनुवादः—हे सीते ! जिस (माल्यवान् पर्वतकी चोटी)से वृष्टिकी धाराओंसे ताडित छोटे तालावोंका गन्ध, आधा उगा हुआ केसरवाला कदम्वका पुष्प और मधुर मयूरोंके शब्द ये सब तुम्हारे विना मुझको असहनीय हो गये थे ॥

टिप्पणी—धाराऽऽहतपल्वलानां=धाराभिः आहतानि (तृ० त०) √आङ्+हन्+क्तः=आहतानि । धाराऽऽहतानि च तानि पल्वलानि, तेषाम् (क० धा०) । 'वेशन्तः पल्वलं चाऽल्पसर' इत्यमरः । गन्धः='गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः ।' इति विश्वः । अर्धोद्गतकेसरम्=अर्धम् (यथा तथा, क्रि० वि०) उद्गताः 'सहसुपा' इति 'सुप्सुपा' समासः अर्धोद्गताः केसरा यस्मिन्, तत् (वहु०) । कादम्वं=कदम्वस्य विकारः, 'तस्य विकारः' इत्यण् । स्निग्धाः=स्निह्-क्तः । शिखिनां=शिखाऽस्ति येषां ते शिखिनः, तेषाम्, यहाँपर 'शिखा' शब्दसे 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हुआ है । 'शिखावलः शिखी केकी मेघनादाऽनुलास्यपि' इत्यमरः । केकाः='केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः । त्वया–'विना' पदके योगमें 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे तृतीया हुई है, एक पक्षमें, पञ्चमी वा द्वितीया भी होती है । असह्यानि=सोढुं योग्यानि सह्यानि, यहाँपर 'षह मर्षणे' धातुसे 'शकिसहोश्च' इस सूत्रसे यत् प्रत्यय हुआ है । न सह्यानि असह्यानि (नञ्०) असह्यश्च असह्यं च असह्याश्च असह्यानि, यहाँपर 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चाऽस्याऽन्यतरस्याम्' इस सूत्रसे नपुंसक एकशेष हो गया है । वभूवुः=भू+लिट्+झि । इस श्लोकमें असह्यत्वमें गन्ध, कादम्ब और केकाओंकी तुल्यता रहने से 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है । चन्द्रालोकमें इसका सोदाहरण लक्षण ऐसा है—

'क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता ।
संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ।
प्राचीनाऽचलचूडाऽग्रचुम्बिविम्वे सुधाकरे ॥'

इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु ! तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥२८॥

अन्वयः—हे भीरु ! यत्र [1]पूर्वाऽनुभूतं कम्पोत्तरं तव उपगूढं स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चित् अतिवाहितानि ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे भीरु–हे भयशीले सीते !, यत्र=यस्मिन्, माल्यवच्छिखर- इति भावः । पूर्वाऽनुभूतं=प्रागुपलब्धं, कम्पोत्तरं=वेपथुप्रधानं, तव=भवत्याः, उपगूढम्=आलिङ्गनं मेघगर्जनश्रवणेन भीरुत्वात्त्वया कृतमालिङ्गनमिति भावः। स्मरता=चिन्तयता, मया=रामेण, गुहाविसारीणि=दरीप्रसारीणि, घनगर्जि- तानि=मेघस्तनितानि, कथञ्चित्=केनाऽपि प्रकारेण, अतिवाहितानि= यापितानि, स्मारकत्वेन कामोद्दीपकत्वान्मेघगर्जितानि मया दुःखेन गमिता- नीति भावः ॥ २७ ॥

भावार्थः—हे भयशीले ! यत्र माल्यवच्छृङ्गे पुरा घनगर्जिते त्वया भीतया कृतमालिङ्गनं स्मरन्नहं त्वद्वियोगे गुहाविसारीणि मेघस्तनितानि दुःखेन सोढवान् ॥ २७ ॥

अनुवादः—हे भयशीले सीते ! जिस (माल्यवान्‌की चोटी) पर पहले अनुभूत, कम्पवाले तुम्हारे आलिङ्गनको याद करते हुए मैंने गुफाओंमें प्रतिध्व- नित होनेके कारण फैलनेवाले मेघके गर्जनोंको क्लेशसे सहन किया ॥ २८ ॥

टिप्पणी—भीरु=यहां 'भीरो' होना चाहिए था, अतः च्युतसंस्कृति दोष हो जाता है। विशेष २४ वें श्लोकमें देखें। पूर्वाऽनुभूतं=पूर्वम् अनुभूतं, तत्, 'सुप्सुपा समासः' कम्पोत्तरं=कम्पः उत्तरो यस्मिन्, तत् (बहु०)। यह 'उप- गूढम्' का विशेषण है। 'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः स्यात्' इत्यमरः। उप- गूढम्=उपगूहनम् उपगूढ, तत्, यहाँपर उप-उपसर्गपूर्वक 'गुहू संवरणे' धातुसे 'नपुंसके भावे क्तः' इस सूत्रसे क्त प्रत्यय हुआ है। उपसर्गके कारण धात्वर्थका अर्थान्तर हो गया है। स्मरता=स्मरतीति स्मरन्, तेन, स्मृ+लट् (शतृ)। गुहाविसारीणि=विसरन्तीति तच्छीलानि (वि+सृ+णिनिः) विसारीणि। गुहायां विसारीणि (स० त०)। घनगर्जितानि–घनस्य गर्जितानि (ष० त०)। 'स्तनितं गर्जितं मेघनिर्घोषे रसितादि च।' इत्यमरः। अतिवाहितानि=अति +वह+णिच्+क्तः (कर्मणि)। उपजाति छन्द है ॥ २८ ॥

---

१. 'रात्रौ' इति पाठान्तरम्।

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥२६॥

अन्वयः—(हे सीते) ! यत्र विभिन्नकोशैः नवकन्दलैः आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात् विडम्ब्यमाना ते विवाहधूमाऽरुणलोचनश्रीः माम् अक्षिणोत् ॥२६॥

व्याख्या—(हे सीते !) यत्र=यस्मिन्, माल्यवच्छृङ्गे, विभिन्नकोशैः=विकसितमुकुलैः, नवकन्दलैः=नूतनकन्दलीपुष्पैः, आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात्=धारासम्पातोक्षितभूमिबाष्पसङ्गतेः, विडम्ब्यमामा=अनुक्रियमाणा, ते=तव, विवाहधूमाऽरुणलोचनश्रीः=उद्वाहधूमरक्तनयनशोभा, सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मां=रामम्, अक्षिणोत्=अपीडयत् ॥ २६ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! यत्र (माल्यवच्छृङ्गे) विकसितमुकुलानि नूतनकन्दलीपुष्पाणि वृष्टिसिक्तभूमिबाष्पं च दृष्ट्वा ततस्तव विवाहधूमेन रक्तनेत्रशोभां संस्मृत्याऽहं पीडितः ॥ २६ ॥

अनुवादः—(हे सीते !) जिस (माल्यवान् पर्वतकी चोटी) पर खिले हुए मुकुलोंवाले नये कन्दली पुष्पोंके साथ मूसलाधार-वृष्टिसे सिक्त भूमिके वाष्प, (भाप) के सम्बन्धसे अनुक्रियमाण विवाहमें धूएंसे लाल वर्णवाली तुम्हारी नेत्रशोभा ने मुझे (विरहके कारण) पीड़ित किया ॥ २६ ॥

टिप्पणी—विभिन्नकोशैः=विभिन्ना कोशा येषु, तैः (बहु०) । नवकन्दलैः=नवानि च तानि कन्दलानि, तैः (क० धा०) आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगात्—आसारेण सिक्ता (तृ० त०), 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । मूसलाधार वृष्टिको 'आसार' कहते हैं । आसारसिक्ता चाऽसौ क्षितिः (क० धा०) । तस्याः बाष्पम् (ष० त०), 'बाष्पमूष्माऽश्रु' इत्यमरः । आसारसिक्तक्षितिबाष्पस्य योगः, तस्मात् (ष० त०), हेतौ पञ्चमी । विडम्ब्यमाना=विडम्ब्यत इति, यहाँ पर वि-उपसर्गपूर्वक चौरादिक डबि धातुसे कर्ममें लट्के स्थानमें शानच् आदेश-होकर यक् और मुक् आगम होकर स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय कर यह पद बनता है । यद्यपि 'डबि' धातु चुरादिमें नहीं है, तो भी 'दशगणीपाठो बहुलम्' कहनेसे चुरादिमें इसका पाठ माना गया है ।

विवाहधूमाऽरुणलोचनश्रीः=विवाहस्य धूमः (ष० त०), तेन अरुणा (तृ० त०), लोचनयोः श्रीः (ष० त०), विवाहधूमाऽरुणा चाऽसौ

लोचनश्रीः (क० धा०), यहाँपर 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' इस सूत्रसे पुंवद्भाव होकर 'अरुणा' के स्थानमें 'अरुण' हो गया है। अक्षिणोत्=यहाँपर हिंसार्थक 'क्षिणु' (तनादि) धातुसे लङ् हुआ है। इस श्लोकमें उपमा अलंकार है। उपजाति छन्द है ।। २९ ।।

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ।। ३० ।।

अन्वयः—(हे सीते !) उपान्तवानीरवनोपगूढानि आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि अमूनि पम्पासलिलानि दूराऽवतीर्णा मे दृष्टिः खेदात् पिबति इव ।।३०।।

व्याख्या—(हे सीते !) उपान्तवानीरवनोपगूढानि=पार्श्ववञ्जुलविपिनच्छन्नानि, आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि=ईषद्दृश्यचञ्चलसारसानि, अमूनि=विप्रकृष्टस्थितानि, पम्पासलिलानि=पम्पासरोजलानि, मे=मम, रामस्य। दृष्टिः=नेत्रं, खेदात्=अवसादात्, पिबति इव,=धयति इव, न विहातुमुत्सहत् इति भावः ।। ३० ।।

भावार्थः—हे सीते ! पार्श्वस्थितैर्वञ्जुलवृक्षैरावृतानि ईषद्दृश्यचञ्चलसारसहितानि पम्पासरोजलानि मे नेत्रे विहातुं नोत्सहेते ।। ३० ।।

अनुवादः—हे सीते ! निकटके वेतके उपवनोंसे ढके हुए कुछ देखे जानेवाले चञ्चल सारसोंसे युक्त पम्पासरोवरके जलको दूरसे उतरती हुई मेरी दृष्टि मानो खेदसे पी रही है (अर्थात् मेरी दृष्टि पम्पासरोवरके जलको मनोहरताके कारण छोड़ना नहीं चाहती है) ।। ३० ।।

टिप्पणी—उपान्तवानीरवनोपगूढानि—वानीराणां वनानि (ष० त०)। 'अथ वेतसे। रथाऽभ्रपुष्पविदुरशीतवानीरवञ्जुलाः।' इत्यमरः। उपान्ते वानीरवनानि (स० त०)। उप+गूह+क्तः=उपगूढम्। उपान्तवानीरवनैः उपगूढानि (तृ० त०) तानि। आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि=ईषत् लक्ष्या आलक्ष्याः, 'कुगतिप्रादयः' इति गतिसमासः। आलक्ष्याः पारिप्लवाः सारसा येषु तानि= पम्पायाः सलिलानि, तानि (ष० त०)। दूराऽवतीर्णा=अव+तृ+क्त+टाप्+ अवतीर्णा। दूरात् अवतीर्णा (प० त०)। दृष्टिः=दृश्+क्तिन्। खेदात्= खिद+घञ्। पिबति='पा पाने' धातुसे लट् 'पाघ्राध्मा०' इत्यादि सूत्रसे

'पा' के स्थानमें 'पिब' आदेश हुआ है। 'पिबति इव' यहाँपर क्रियोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उपजाति छन्द है।। ३० ।।

अत्राावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ।।३१।।

अन्वयः—हे प्रिये ! अत्र अन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि अवियुक्तानि रथाङ्ग-नाम्नां द्वन्द्वानि ते दूराऽन्तरवर्तिना मया सस्पृहम् ईक्षितानि ।। ३१ ।।

व्याख्या—हे प्रिये = हे वल्लभे, सीते !, अत्र = अस्मिन् (पम्पासरसि), अन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि=परस्परवितीर्णकमलकिञ्जल्कानि, अवियुक्तानि = वियोगरहितानि, संयुक्तानीति भावः। रथाऽङ्गनाम्नां = चक्रवाकाणां, द्वन्द्वानि= मिथुनानि, ते = तव, सीताया इति भावः। दूराऽन्तर्वर्तिना = विप्रकृष्टदेशस्थि-तेन, मया = रामेण, सस्पृह=साऽभिलाषम्, ईक्षितानि = अवलोकितानि, अवि-युक्तानि चक्रवाकमिथुनानि पश्यन्नहं त्वां स्मृतवानिति भावः ।।

भावार्थः—हे प्रिये ! पम्पासरसि प्रियायुक्तांश्चक्रवाकान् पश्यन्नहं त्वाम-स्मार्षम् ।। ३१ ।।

अनुवादः—हे प्रिये ! इस (पम्पासरोवर) में एक दूसरेको कमलके केसर को देनेवाले वियोगरहित चक्रवाकी और चक्रवाकों को तुमसे दूर रहनेवाले मैंने अभिलाषपूर्वक देखा था (उस समय मैंने तुम्हारा स्मरण किया था) ।। ३१ ।।

टिप्पणी—प्रिये = प्रीणातीति प्रिया, तत्सम्बुद्धौ, यहाँपर 'प्रीञ् तर्पणे' धातुसे 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्रसे कप्रत्यय हुआ है। अत्र = इदम् + त्रल् (अव्यय)। अन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि—दा + क्त=दत्तम्। अन्योन्यस्मै दत्तानि (च० त०) उत्पलानां केसराणि (ष० त०)। अन्योन्यदत्तानि उत्पलकेस-राणि यैस्तानि (बहु०)। अवियुक्तानि–वि + युज् + क्त–वियुक्तानि। न वियु-क्तानि (नञ्०)। रथाऽङ्गनाम्नां=रथस्य अङ्गम् (अवयवः) रथाऽङ्गं (ष० त०), चक्रमित्यर्थः। रथाऽङ्गं नाम येषां ते रथाङ्गनामानः, तेषाम् (बहु०) "नामैकदेशे नामग्रहणम्' 'नामके एकदेशमें (भी) नामका ग्रहण होता है' इस न्यायसे रथाऽङ्ग हुआ चक्र अर्थात् चक्रवाक (चकवा)। "कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गा-ऽऽह्वयनामकः" इत्यमरः। द्वन्द्वानि="स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्" इत्यमरः। दूरा-

ऽन्तरवर्तिना=दूरं च तत् अन्तरं (क० धा०), दूरान्तरे वर्तते तच्छीलो दूराऽन्तरवर्ती, तेन, दूरान्तर+वृत्+णिनिः (उपपद०)। सस्पृहं=स्पृहया सहितं यथा तथा, (तुल्ययोगबहु०)। यह क्रियाविशेषण है। ईक्षितानि=ईक्ष+क्तः। उपजाति छन्द है ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्धचा परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रु रहं निषिद्धः ॥

अन्वयः—(हे सीते !) स्तनाऽभिरामस्तबकाऽभि[1] नम्रां तन्वीम् इमां तटाऽशोकलतां च त्वत्प्राप्तिबुद्धचा परिरब्धुकामः अहं सौमित्रिणा[2] साऽश्रुः निषिद्धः ॥

व्याख्या—(हे सीते !) स्तनाऽभिरामस्तवकाऽभिनम्रां=पयोधरमनोहरगुच्छावनतां, तन्वीं=कृशाम्, इमाम्=एतां, तटाऽशोकलतां=तीराऽशोकवल्लीं, त्वत्प्राप्तिबुद्धचा=त्वदासादनधिया, त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्येति भावः, परिरब्धुकामः=आलिङ्गितुकामः, अहं=रामः, सौमित्रिणा=लक्ष्मणेन, साऽश्रुः=अश्रुसहितः सन्, निषिद्धः=निवारितः, 'नेयं सीते' ति कथयित्वेति शेषः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—हे सीते ! पयोधरसदृशाभ्यां मनोहरपुष्पगुच्छाभ्यामवनतां कृशामशोकलतां 'त्वमेव प्राप्ते' ति भ्रान्त्या यदाऽहमालिङ्गितुमुद्युक्तस्तदा लक्ष्मणेन 'नेयं प्रजावती'ति कथयित्वाऽहं निवारितः ॥ ३२ ॥

अनुवादः—हे सीते ! स्तनोंके समान सुन्दर पुष्पगुच्छोंसे झुकी हुई पतली, तटमें वर्तमान इस अशोकलताको 'मैंने तुमको पा लिया' इस भ्रान्तिसे जब आलिङ्गन करनेकी इच्छा की, तब लक्ष्मणने आंखोंमें आसू भरते हुए मुझको रोका ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—स्तनाऽभिरामस्तबकाऽभिनम्रां=स्तनौ इव अभिरामौ, यहाँ पर 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्रसे कर्मधारय समास हुआ है। यहाँ पर उपमा अलंकार है। स्तनाऽभिरामौ च तौ स्तबकौ (क० धा०)। अभिनमनशीला अभिनम्रा, यहाँ पर अभि-उपसर्गपूर्वक 'णम (नम) प्रह्वत्वे शब्दे' इस धातु से 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इस सूत्रसे र प्रत्यय हुआ है।

---

१. 'वा' इति पाठान्तरम्।

२. क्वचित् 'साऽस्रम्' इति पाठान्तरम्। तत्र क्रियाविशेषणं बोध्यम्।

नम् + र + टाप् = अभिनम्रा । स्तनाऽभिरामस्तवकाभ्याम् (अभिनम्रा (तृ० त०) । तन्वीम् = यहाँपर तनुशब्दसे 'वोतो गुणवचनात्' इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय हुआ है । तटाशोकलताम्—अशोकस्य लता । (ष० त०) तटे अशोकलता, ताम् (स० त०) । त्वत्प्राप्तिबुद्धया—प्रापणं प्राप्तिः यहाँपर प्र–उपसर्गपूर्वक 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' इस सूत्रसे क्तिन् प्रत्यय हुआ है । तव प्राप्तिः त्वत्प्राप्तिः (ष० त०), तस्याः बुद्धिः तया (ष० त०), बुध् + क्तिन् = बुद्धिः । परिरब्धुकामः—परि + रभ् + तुमुन् = परिरब्धुम् । परिरब्धुं कामो यस्य सः (बहु०) यहाँपर 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इस वार्तिकसे 'तुमुन्' के मकारका लोप हुआ है । सौमित्रिणा = सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिस्तेन्, सुमित्राशब्दसे 'बाह्वादिभ्यश्च' इस सूत्रसे इञ् प्रत्यय होकर 'सौमित्रि' पद बनता है । साऽश्रुः = अश्रुणा सहितः (तुल्ययोग बहु०) । निषिद्धः = नि + सिध + क्तः । यहाँपर नि = उपसर्गपूर्वक सिधधातुका 'उपसर्गात्सुनोति०' इत्यादि सूत्रसे मूर्धन्य षकार आदेश हुआ है । इस श्लोकमें रामचन्द्रजीकी उन्मादाऽवस्था सूचित होती है । उपजाति छन्द है ।। ३२ ।।

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपंक्तयस्त्वाम् ।।३३।।

अन्वयः—विमानाऽन्तरलम्बिनीनां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा खम् उत्पतन्त्यः अमूः गोदावरीसारसपंक्तयः त्वां प्रप्युद्व्रजन्ति इव ।। ३३ ।।

व्याख्या—(हे सीते !) बिमानाऽन्तरलम्बिनीनां = व्योमयानावकाशावस्रंसिनीनां, कांचनकिङ्किणीनां=सुवर्णक्षुद्रघण्टिकानां, स्वनं = शब्दं, श्रुत्वा= आकर्ण्य, स्वयूथशब्दभ्रमादिति शेषः । खम् = आकाशम्, उत्पतन्त्यः=उड्डीयमानाः अमूः = एताः, गोदावरीसारसपंक्तयः = गोदासारसाऽऽलवयः, त्वां = सीतां, प्रत्युदव्रजन्ति इव = प्रत्युद्गच्छति इव ।। ३३ ।।

भावाऽर्थः—हे सीते ! पुष्पकाऽवकाशाऽवस्रंसिनीनां कनकक्षुद्रघण्टिकानां शब्दमाकर्ण्य स्वयूथशब्दभ्रमादाकाशमुड्डीयमाना अमूः गोदासारसराजयस्त्वां प्रत्युद्गच्छन्तीव प्रतीयन्ते ।। ३३ ।।

अनुवादः—हे सीते ! पुष्पक विमानकेअवकाशमें लटकी हुई सोनेकी छोटी छोटी घूघुरोंका शब्द सुनकर अपने गिरोहके शब्दके भ्रमसे आकाशमें उड़नेवाले ये गोदावरी नदीके सारसोंके झुण्ड मानो तुम्हारी अगवानी कर रहे हैं ॥३३॥

टिप्पणीः—विमानाऽन्तरलम्बिनीनां=विमानस्य अन्तराणि (ष० त०) तेषु लम्बन्ते तच्छीला विमानाऽन्तरलम्बिन्यः, तासाम्, विमानान्तंर+लंबि+णिनिः (उपपद०)। काञ्चनकिङ्किणीनां काञ्चनस्य किङ्कण्यः, तासाम् (ष० त०)। "किंकिणी क्षुद्रघण्टिका" इत्यमरः। स्वनं स्वननं स्वनः, तम्, "स्वन शब्दे" धातुसे "स्वनहसोर्वा" इस सूत्रसे विकल्पसे अप्‌प्रत्यय होकर "स्वन" शब्द होता है। घञ् प्रत्यय होकर पक्षाऽन्तरमें "स्वान" शब्द भी बन जाता है। श्रुत्वा—श्रु+क्त्वा। उत्पतन्त्यः=उत्+पत्+लट्+शतृ+ङीप्। गोदावरीसारसपङ्क्तयः=सारसानां पंक्तयः (ष० त०), गोदावर्यां सारसपंक्तयः (स० त०), प्रत्युद्व्रजन्ति=प्रति+उद्+व्रज+लट्+झि। इस श्लोकमें क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। उपजाति छन्द है॥ ३३॥

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंबर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४॥

अन्वयः—(हे सीते) [1]पेशलमध्यया अपि त्वया घटाऽम्बुसंवर्द्धितबालचूता उन्मुखकृष्णसारा चिरात् दृष्टा एषा पञ्चवटी मे मनः आनन्दयति[2] ॥ ३४॥

व्याख्याः—(हे सीते !) पेशलमध्यया अपि=कोमलाऽवलग्नया अपि, भारोद्वहनाऽसमर्थया अपीति भावः। त्वया=भवत्या, घटाऽम्बुसंवर्द्धितबालचूताः=कलशजलसमेधिताऽल्पाऽऽम्रवृक्षाः, उन्मुखकृष्णसाराः=ऊर्ध्वाऽऽननकृष्णसारमृगाः, चिरात्=बहुकालानन्तरं, दृष्टा=अवलोकिता, एषा=इयं, पञ्चवटी, मे=मम, रामस्येत्यर्थः। मनः=चित्तम्, आनन्दयति=आह्लादयति ॥३४॥

भावार्थः—हे सीते ! कृशोदर्याऽपि त्वया यत्र कलशजलेन बालचूताः संवर्द्धिताः। यत्रत्याः कृष्णसारा मृगा अस्मान् दृष्ट्वा उन्मुखा वर्तन्ते। बहुकालानन्तरं दृष्टा सा पञ्चवटी मदीयं मन आह्लादयति ॥ ३४॥

---

१. "पेलवे"ति "कोमले"ति च पाठान्तरे।

२. "आह्लावयति" "आक्लेदयति" चेति पाठान्तरे।

अनुवादः—हे सीते ! कृशोदरी होने पर भी तुमने घड़े के जलसे जहाँपर छोटे-छोटे आमके पेड़ोंको बढ़ाया था और जहाँपर हमें देखनेके लिये कृष्णसार मृग ऊपर देख रहे हैं; बहुत समयके अनन्तर देखी गई वह पंचवटी मेरे मन को आनन्दित कर रही है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—पेशलमध्यया=पेशलं मध्यं यस्याः सा पेशलमध्या, तया (बहु०)। घटाऽम्बुसंवर्द्धितजालचूता=घटे अम्बूनि (स० त०)। घटाऽम्बुभिः संवर्द्धिताः (तृ० त०)। बालाश्च ते चूताः (क० धा०)। घटाम्बुसंवर्द्धिता बाल-चूता यस्याः सा (बहु०)। उन्मुखकृष्णसारा=उत् (ऊर्ध्वं) मुखं येषां ते उन्मुखाः (बहु०)। उन्मुखाः कृष्णसारा यस्याः सा (बहु०)। मृगविशेषका नाम कृष्ण-सार है। धर्मशास्त्रोंमें कृष्णसार मृगका बहुत वर्णन पाया जाता है। मनुस्मृति में यज्ञिय (यज्ञ करने के लिए योग्य) देशके लक्षणके प्रसङ्गमें लिखा है—

"कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥" (२–२३)

अर्थात् जहाँपर कृष्णसार मृग स्वभावतः विचरण करता है उसे "यज्ञिय देश" जानना चाहिए, उसके बाद "म्लेच्छ देश" जानना।

याज्ञवल्क्य ऋषिने भी "यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत" ऐसा लिखा है अर्थात् जिस देशमें कृष्ण (सार) मृग रहता है। उसमें धर्मों को जानो। पञ्चवटी=पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी, यहाँपर "तद्धितार्थो-त्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे समास हुआ है, "संख्यापूर्वो द्विगुः" इससे द्विगु-संज्ञा होकर "द्विगोः" इससे ङीप् प्रत्यय होकर "द्विगुरेकवचनम्" इससे एक-वचन हुआ है। नासिकके समीप गोदावरी नदीके भूमिभागको "पञ्चवटी" कहते हैं। पदार्थ के अनुसार इसमें पाँच वट (बरगद) के पेड़ थे। कुछ लोगोंका कहना है कि उसमें अश्वत्थ (पीपल), बिल्व (बेल), धात्री (आँवला), अशोक और वट (बरगद) ये पाँच प्रकारके पेड़ थे। आनन्दयति=आङ्+(टु) नदि+णिच्+लट्+तिप्। उपजाति छन्द है ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र अनुगोदं मृगयानिवृत्तः तरङ्गवातेन विनीतखेदः रहः त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा (सन् अहम्) वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि ।। ३५ ।।

व्याख्या—(हे सीते !) अत्र=पञ्चवट्याम्, अनुगोदं=गोदावरीसमीपे, मृगयानिवृत्तः=आखेटपरावृत्तः, तरङ्गवातेन—ऊर्मिवायुना, विनीतखेदः=अपगतश्रमः, रहः=रहसि, त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा=त्वदङ्कनिहितमस्तकः (सन् अहम्) वानीरगृहेषु=वेतसकुञ्जेषु, सुप्तः=निद्राणः, (तत्) स्मरामि=चिन्तयामि ।।३५।।

भावार्थः—हे सीते ! पञ्चवट्यां मृगयातो निवृत्तः तरङ्गवायुना विगतश्रमः एकान्ते त्वदङ्के मस्तकं निधाय वेतसकुञ्जेषु सुप्तोऽहं तत् वृत्तमद्यापि चिन्तयामि ॥

अनुवादः—हे सीते ! इस (पञ्चवटी) में गोदावरीके समीपमें मैं शिकार से लौटकर तरङ्गोंकी हवासे श्रमरहित होकर तुम्हारी गोदमें शिर रखता हुआ वेतके कुञ्जोंमें जो सो गया था उसका स्मरण कर रहा हूँ ।। ३५ ।।

टिप्पणी—अनुगोदं="नामैकदेशे नामग्रहणम्" इस न्यायसे गोदावरीके एकदेश 'गोदा' शब्दसे भी गोदावरीका ग्रहण होता है । गोदायाः समीपे अनुगोदम्, यहाँ पर "अनुर्यत्समया" इस सूत्रसे अव्ययीभाव समास हुआ है । मृगयानिवृत्तः—नि+वृत्+क्तः+निवृत्तः, मृगयाया निवृत्तः (ष० त०) । तरङ्गवातेन=तरङ्गाणां वातः, तेन (ष० त०) । विनीतखेदः—वि+णीञ् (नी)+क्तः=विनीतः । खिद+घञ्=खेदः । विनीतः खेदो यस्य सः (बहु०) । रहः=यहाँपर "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे द्वितीया हुई है । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा—नि+षद्+क्तः=निषण्णः । तव उत्सङ्गः त्वदुत्सङ्गः (ष० त०) । निषण्णो मूर्धा यस्य सः (बहु०) त्वदुत्सङ्गे निषण्णमूर्धा (स० त०) । वानीरगृहेषु=वानीराणां गृहाणि, तेषु (ष० त०) । सुप्तः=(ञि) ष्वप् क्तः । यहाँ पर वाक्याऽर्थ कर्म है । उपजाति छन्द है ।। ३५ ।।

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ।।३६।।

अन्वयः—(हे सीते !) यो [1]भ्रूभेदमात्रेण नहुषं मघोनः पदात् प्रभ्रंशयाञ्चकार । आविलाऽम्भः परिशुद्धिहेतोः तस्य मुनेः अयं भौमः स्थानपरिग्रहः (दृश्यते) ।। ३६ ।।

---

1. "भङ्गे"ति पाठान्तरम् ।

व्याख्या—(हे सीते !) यः=मुनिः, भ्रूभेदमात्रेण=भ्रूभङ्गेनैव, नहुषं=सोमवंशभवं राजानं, मघोनः=इन्द्रस्य, पदात्=स्थानात्, इन्द्रत्वादित्यर्थः, देवराज्यादिति भावः । प्रभ्रंशयाञ्चकार=प्रध्वंसयाञ्चकार । आविलाऽम्भः परिशुद्धिहेतोः=कलुषजलप्रसादकारणस्य, तस्य=पूर्वोक्तस्य, मुनेः=ऋषेः, अगस्त्यस्येति भावः । अयम्=एषः, भौमः=पार्थिवः, स्थानपरिग्रहः=आश्रमः, दृश्यत इति शेषः ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे सीते ! यो मुनिः भ्रूभङ्गेनैव नहुषं राजानम् इन्द्रत्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार कलुषसलिलप्रसादकारणस्य तस्याऽगस्त्यस्य भूमौ स्थित आश्रमोऽयं दृश्यते ॥ ३६ ॥

अनुवादः—हे सीते ! जिन्होंने भौंहोंको टेढ़ी करनेसे ही नहुषको इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर दिया, मलिन जलको शुद्ध करनेमें कारणभूत उन मुनि (अगस्त्य) का यह भूलोकस्थित आश्रम दिखाई दे रहा है ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—भ्रूभेदमात्रेण=भ्रुवोः भेदः (ष० त०) भ्रूभेद एव भ्रूभेदमात्रं, तेन "मयूरव्यंसकादयश्चे"ति रूपकसमासः । पदात्="पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माऽङ्घ्रिवस्तुषु ।" इत्यमरः । प्रभ्रंशयाञ्चकार=यहाँपर प्र–उपसर्गपूर्वक णिच् प्रत्ययान्त भ्रंश् धातुसे लिट् हुआ है । यहाँपर महामुनि पाणिनिके "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इस सूत्रके अनुसार"आमन्त प्रभ्रंशयाम्" से अव्यवहित रूपसे कृञ् धातुका अनुप्रयोग इष्ट था, परन्तु महाकविने "प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार" ऐसा लिखकर व्यवहित रूपसे प्रयोग किया है, अतः इसमें "च्युतसंस्कृति" नामक दोष है । महाकविने रघुवंशमें अन्य दो स्थानोंमें भी ऐसे प्रयोग किये हैं । देखिए–'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥९–६१' यहां भी "पातयामास" ऐसा प्रयोग दृष्ट है । "अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम् ।" अर्थात् भले ही "माष" को "मष" करे परन्तु छन्दोभङ्ग न करे–इस युक्तिका अनुसरण कर महाकविने छन्दोभङ्गके भयसे शायद व्यवहित रूपसे क्रियापदका प्रयोग किया है, लेकिन ऐसे प्रयोगसे कविका असामर्थ्य प्रतीत होता है । कदाचित् महाकविने व्याकरणान्तरका अनुसरण किया हो । और–भी "संयोजयां विधिवदास" १६–८३ यहाँ भी 'संयोजयामास' होना चाहिए । ऐतिहासिककथा—पूर्व कालमें देवराज इन्द्रने वृत्राऽसुरको मार डाला । वृत्रा-

सुर ब्राह्मण था, अतः उसकी हत्या करनेसे ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर इन्द्र अपने पद से च्युत हो गये। स्वर्ग में अराजका दूर करनेके लिए देवताओंकी प्रार्थनासे 'चन्द्रवंश'के प्रतापी राजा नहुषने इन्द्रपदको प्राप्त किया। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाही' इस उक्तिके अनुसार उन्हें मद उत्पन्न हुआ। इन्द्रपदके साथ-साथ इन्द्राणीकी प्राप्ति मुझे चाहिये ऐसा सोचकर उन्होंने इन्द्राणीके पास सन्देश भेजा। इन्द्राणीने देवगुरु बृहस्पतिके परामर्शसे 'सप्तर्षियोंसे उठाई हुई पालकीमें बैठकर आप मेरे पास आएँ तो मैं इन्द्रके समान आपको वरण करूँगी' ऐसा कहला भेजा। 'कामान्धो नैव पश्यति' इस उक्तिके अनुसार नहुष जब सात ऋषियोंसे उठाई गई पालकीमें बैठकर चले, तब अगस्त्यने चलनेमें कुछ विलम्ब किया, तब कामार्त नहुषने 'सर्प सर्प' (चलो चलो) कहकर पैरके अँगूठेसे अगस्त्यको प्रेरणा की; तब अगस्त्यने क्रुद्ध होकर 'दुष्ट! तू सर्प हो जा' ऐसा शाप देकर राजा को इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर दिया। यह कथा महाभारतमें है।

आविलाऽम्भःपरिशुद्धितोः = आविलं च तत् अम्भः (क० धा०), 'कलुषोऽनच्छ आविलः' इत्यमरः। परि + शुध् + क्तिन् = परिशुद्धिः। आविलाऽम्भसः परिशुद्धिः (ष० त०)। अगस्त्यका उदय होनेपर शरत् ऋतुमें जल निर्मल होता है। 'अगस्त्य' नक्षत्र आकाशके दक्षिण भागमें दिखाई देता है। भौमः=भूमौ भवः, यहाँपर 'तत्र भवः' इस सूत्रसे भूमिशब्दसे अण् प्रत्यय हुआ है। 'भौम' कहनेसे अगस्त्यका दिव्य आश्रम भी है ऐसा जाना जाता है। स्थानपरिग्रहः—परिगृह्यत इति परिग्रहः, यहाँपर परि-उपसर्गपूर्वक 'ग्रह उपादाने' धातुसे 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इस सूत्रसे अप् प्रत्यय हुआ है। स्थानम् एव परिग्रहः (रूपकसमासः) इस श्लोकमें छन्द इन्द्रवज्रा है॥ ३६॥

त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥३७॥

अन्वयः—(हे सीते!) अनिन्द्यकीर्तेः तस्य आक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धि त्रेताऽग्निधूमाऽग्रम् इदं घ्रात्वा रजोविमुक्तः मे आत्मा लघिमानं समश्नुते॥३७॥

व्याख्या—(हे सीते!) अनिन्द्यकीर्तेः = अनिन्दनीययशसः, अस्य = अगस्त्यस्य, आक्रान्तविमानमार्गम् = अधिक्रान्ताऽऽकाशं, हविर्गन्धि = चरुपुरो-

डाशादिगन्धयुक्तं, त्रेताऽग्निधूमाग्रम्=अग्नित्रयधूमाग्रम्, इदं, घ्रात्वा=आघ्राय, रजोविमुक्तः=रजोगुणरहितः, मे=मम, आत्मा=अन्तःकरणं, लघिमानं=लघुत्वगुणं, समश्नुते=प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! अविगीतयशसस्तस्याऽगस्त्यस्याकाशव्यासहविर्गन्धि अग्नित्रयधूमाग्रं घ्रात्वा रजोरहितं मदीयमन्तःकरणं लाघवं प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

अनुवाद—हे सीते ! अनिन्दनीय यज्ञवाले उन अगस्त्य ऋषिके आकाशमें व्याप्त चरुपुरोडाश आदिके सौरभवाले अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आवसथ्य) के धूमाग्रको सूँघकर रजोगुणसे रहित मेरा अन्तःकरण लघुत्व गुणको प्राप्त कर रहा है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—अनिन्द्यकीर्तेः=निन्दितुं योग्या निन्द्या, णि+(नि) दि+ण्यत्=टाप् । न निन्द्या (नञ्०) अनिन्द्या कीर्तिर्यस्य सः अनिन्द्यकीर्तिस्तस्य (बहु०) "यशः कीर्तिः समज्ञा च" इत्यमरः । वास्तवमें यश और कीर्तिमें भेद है, जीवितकालमें होनेवाली प्रसिद्धि "यश" और मरणोत्तर होनेवाली प्रसिद्धिको "कीर्ति" कहते हैं, अतएव अर्गलास्तोत्रमें—

"यशः कीर्तिं च लक्ष्मीं च सदा रक्षतु वैष्णवी ।"

ऐसा लिखा है । यहांपर कीर्ति यशका उपलक्षण है । आक्रान्तविमानमार्गम्—विमानस्य मार्गः (ष० त०), आक्रान्तो विमानमार्गो येन, तत् (बहु०) । विमानका मार्ग कहनेसे यहाँपर आकाश जाना जाता है । हविर्गन्धि=हविषो गन्धः (ष० त०) हविर्गन्धो यस्याऽस्तीति, तत्, हविर्गन्ध+इनिः । त्रेताग्नि-धूमाऽग्रं=त्रित्वम् इता त्रेताः, "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इससे एकत्वका निपात होकर "त्रेता" पद निष्पन्न होता है । अग्नित्रयभिदं त्रेता" इत्यमरः । अग्निशालामें दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आवसथ्य ये तीन श्रौत अग्नियोंका आधान किया जाता है । इन तीनों अग्नियोंको "त्रेता" कहते हैं । त्रेता चाऽसौ अग्निः (क० धा०) । त्रेताऽग्नेः धूमः (ष० त०) तस्य अग्रं तत् (ष० त०) । घ्रात्वा="घ्रा गन्धोपादाने" धातुसे क्त्वा प्रत्यय हुआ है । रजोविमुक्तः=रजसो विमुक्तः (पं० त०) । लघिमानं=लघोर्भावो लघिमा, तम् । यहांपर लघु शब्द-से "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय होकर 'लघिमन्" शब्द निष्पन्न होता है । समश्नुते=सम्+अशूङ्+त । उपजाति छन्द है ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्मानिनि ! शातकर्णेः पञ्चाप्सरो विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥३८॥

अन्वयः—हे मानिनि ! शातकर्णेः[1] मुनेः पञ्चाप्सरो नाम पर्यन्तवनम् एतत् विहारवारि विदूरात् मेघाऽन्तराऽऽलक्ष्यम् इन्दुबिम्बम् इव आभाति ॥

व्याख्या—हे मानिनि = हे अभिमानिनि सीते !, शातकर्णेः = शातकर्णि-नामकस्य, मुनेः = तपस्विनः, पञ्चाऽसरो नाम = पञ्चाऽप्सरोनाम्ना प्रसिद्धं, पर्यन्तवनम् = उपान्ताऽरण्यम्, एतत् = इदं, विहारवारि = क्रीडासरः, विदूरात् = विप्रकृष्टप्रदेशात्, मेघाऽन्तराऽऽलक्ष्यं = वारिदमध्ये ईषद्दृश्यम्, इन्दुविम्बम् इव = चन्द्रमण्डलम् इव, आभाति = शोभते ॥ ३८ ॥

भावाऽर्थः—हे मानिनि सीते ! शातकर्णिमुनेः पञ्चाप्सरोनाम्ना प्रसिद्धं यस्य पर्यन्तेषु वनानि वर्तन्ते तादृशम् एतत् क्रीडासरो मेघमध्य ईषद्दर्शनीयं चन्द्रमण्डलमिव शोभते ॥ ३८ ॥

अनुवादः—हे मानिनि सीते ! शातकर्णि नामक मुनिका "पञ्चाऽप्सरस्" नामसे प्रसिद्ध, जिसके पर्यन्तोंमें वन है, ऐसा यह क्रीड़ाका तालाव दूरसे मेघों-के बीचमें कुछ दिखाई देनेवाले चन्द्रमण्डलके समान शोभित हो रहा है ॥३८॥

टिप्पणी—हे मानिनि = "मानश्चित्तसमुन्नतिः" इत्यमरः । प्रशस्तो मानः अस्या अस्तीति मानिनी, सत्सम्बुद्धौ । मान = इनि–ङीप् । शातकर्णे = शत-कर्णस्याऽपत्यं पुमान् शातकर्णिः, तस्य; यहाँपर "शतकर्ण" शब्दसे "अत इञ्" इस सूत्रसे इञ् प्रत्यय होकर "तद्धितेष्वचामादेः" इस सूत्रसे आदि अच्की वृद्धि हो गई है । पञ्चाऽप्सरः = पञ्च अप्सरो यस्मिस्तत् (बहु०) । "स्त्रियां बहुष्व-प्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखा ।" इत्यमरः । पर्यन्तवनं = पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्, यहाँपर "सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरणबहुव्रीहि हुआ है । विहारवारि—विहरणं विहारः, यहाँपर वि—उपसर्गपूर्वक "हृञ् हरणे" धातुसे "भावे" सूत्रसे भावमें घञ् प्रत्यय हुआ है। विहाराय वारि, (तादर्थ्ये चतुर्थी, चतुर्थीतत्पुरुषः) । मेघाऽन्तराऽऽलक्ष्यं—

---

१. वाल्मीकिरामायणे "शातकर्णिः" इत्यत्र "माण्डकर्णिः" दृश्यते । यथा—

"इदं पञ्चाऽप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ।
निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ॥"

(अरण्यकाण्डः, ११–११) ।

मेघानाम् अतन्तरम् (ष० त०), ईषत् लक्ष्यम् आलक्ष्यम् "कुगतिप्रादयः" इति समासः । "आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ" इत्यमरः । मेघाऽन्तरे आलक्ष्यम् (स० त०) । इन्दुविम्वम् इव = इन्दोः बिम्वम् (ष० त०) । इस श्लोक में उपमा अलङ्कार है । इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३८ ॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीनः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) पुरा दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः मृगैः सार्धं चरन् स ऋषिः समाधिभीतेन[1] मघोना पञ्चाऽप्सरोयौवनकूटवन्धम् उपनीतः किल ॥ ३९ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) पुरा = पूर्वकाले, दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः = कुशांऽकुरमात्राऽऽहारः, मृगैः = हरिणैः, सार्धं = सह, चरन् = गच्छन्, सः = पूर्वोक्तः, ऋषिः = मुनिः, शातकर्णिरित्यर्थः । समाधिभीतेन तपश्चरणत्रस्तेन, मघोना = इन्द्रेण, पञ्चाऽप्सरोयौवनकूटवन्धम् = अप्सरःपञ्चकताऽरुण्यकपटयन्त्रम्, उपनीतः = प्रापितः मृगसाहचर्यान्मृगवदेव बद्ध इति भावः ॥ ३९ ॥

भावार्थः—(हे सीते !) पूर्वकाले कुशाऽङ्कुरमात्राहारो मृगवृत्तिः स मुनिः तपश्चरणभीतेन देवेन्द्रेण पञ्च अप्सरसः प्रेष्य तपश्चरणान्निवारितः ॥ ३९ ॥

अनुवादः—हे सीते ! पूर्व समयमें केवल कुशोंका अंकुर खानेवाले और मृगोंके साथ विचरण करनेवाले उन मुनिको तपस्यासे डरनेवाले इन्द्रने पाँच अप्सराओं के यौवनरूप कपटयन्त्रमें फँसा दिया ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः = दर्भाणाम् अङ्कुरः(ष० त०), दर्भाङ्कुर एव दर्भाङ्कुरमात्रम् (रूपक०), तदेव वृत्तिः (जीवनसाधनम्) यस्य सः (बहु०) । समाधिभीतेन = समाधेः भीतः, तेन, यहाँपर "भीत्राऽर्थानां भयहेतुः" इस सूत्रसे पञ्चमी होकर "भयमीतभीतिभिरिति वाच्यम्" इस वार्तिकसे पञ्चमीतत्पुरुष समास हुआ है । पञ्चाऽप्सरोयौवनकूटबन्धं—यूनो भावो यौवनम्, यहाँपर 'युवन्' शब्दसे "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "नस्तद्धिते" इससे टि (अन्) के लोपकी प्राप्ति थी पर "अन्" इस सूत्रसे उसका प्रकृतिभाव होकर वृद्धि हुई है । "तारुण्यं यौवनं समे ।" इत्यमरः । कूटस्य बन्धः (ष० त०) । पञ्चानाम् अप्सरसां यौवनम्, यहाँ पर "तद्धिता-

१. "भेदेन" इति पुस्तकाऽन्तरपाठः ।

ऽर्थोत्तरपदसमाहारे च" इस सूत्रसे उत्तरपदसमास हुआ है। पञ्चाऽप्सरोयौवनम् एव कूटबन्धः, तम् (रूपक०)। "उन्माथः कूटतन्त्रं स्यात्" इत्यमरः। शातकर्णि नामक मुनि मृगके साहचर्यके कारण मृगके समान पाशबद्ध हुए थे यह तात्पर्य है। इस श्लोकमें रूपक अलंकार है। उपजाति छन्द है ॥ ३९॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे सीते !) अन्तर्हितसौधभाजः तस्य अयं[1] प्रसक्तसङ्गीतमृदंगघोषः[2] वियद्गतः (सन्) पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥

व्याख्या—(हे सीते !) अन्तर्हितसौधभाजः = जलाऽन्तर्गतप्रासादगतस्य, तस्य = शातकर्णेः, अयम् = अनुभवगोचरः, प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः सन्ततसङ्गीतमुरजशब्दः, वियद्गतः = आकाशप्राप्तः (सन्), पुष्पकचन्द्रशालाः = विमानशिरोगृहाणि, क्षणं = कञ्चित्कालं, प्रतिश्रुन्मुखराः = प्रतिध्वानैः ध्वनन्तीः, करोति = विदधाति ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे सीते ! जलाऽन्तर्गतप्रसादस्थितस्य तस्य शातकर्णेः सन्ततसङ्गीतमुरजध्वनिराकाशव्यापी सन् पुष्पकविमानचन्द्रशालाः कञ्चित्कालं यावत् प्रतिध्वनिभिः शब्दायमानाः करोति ॥ ४० ॥

अनुवादः—हे सीते ! जलके भीतर महलमें रहनेवाले उन शातकर्णि मुनि के प्रचलित संगीतकी पखावजका शब्द आकाशमें प्राप्त होकर पुष्पक विमानके ऊर्ध्वभाग (छत) को कुछ समय तक प्रतिध्वनिसे शब्दायमान कर रहा है ॥

टिप्पणी—अन्तर्हितसौधभाजः—सुधा (लेपः) अस्याऽस्तीति सौधः, यहाँ पर "ज्योत्स्नाऽऽदिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे अण् प्रत्यय हुआ है, "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः। अन्तर्हितश्चाऽसौ सौधः (क० धा०)। अन्तर्हितसौधं भजतीति अन्तर्हितसौधभाक्, तस्य, यहाँपर अन्तर्हितसौध—उपपदपूर्वक "भज सेवायाम्" धातुसे "भजो ण्विः" इस सूत्रसे ण्वि प्रत्यय हुआ है। (उपपदसमासः)। प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः—मृदङ्गस्य घोषः (ष० त०)। संगीते मृदङ्गघोषः (स० त०)। प्रसक्तश्चाऽसौ सङ्गीतमृदङ्गघोषः (क० धा०)।

"गीतं वाद्यं च नृत्यं च संगीतं त्रयमुच्यते।"

---

१. "प्रयुक्त" ति पुस्तकाऽन्तरपाठः।
२. "नाद" इति पुस्तकाऽन्तरपाठः।

इस उक्तिके अनुसार गीत, वाद्य और नृत्यको "सङ्गीत" कहते हैं। वियद्गतः = वियत् गतः, यहाँपर "द्वितीयाश्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः" इस सूत्रसे द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। पुष्पकचन्द्रशालाः=पुष्पकस्य चन्द्रशालाः, ताः (ष० त०) "चन्द्रशाला शिरोगृहम्" इत्यमरः। "पुष्पक विमान" पहले उत्तरदिशाके लोकपाल कुवेरजीका था, उनके सौतेले भाई राक्षसराज रावणने उनसे छीनकर अपने पास रक्खा था। क्षणम् = "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्तसंयोगमें द्वितीया हुई है। प्रतिश्रुन्मुखराः = प्रतिश्रुद्भिः मुखराः, ताः (तृ० त०)। "स्त्री प्रतिश्रुत् प्रतिध्वाने" इत्यमरः। उपजाति छन्द है॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥४१॥

अन्वयः—(हे सीते !) नाम्ना सुतीक्ष्णः चरितेन दान्तः असौ अपरः तपस्वी एधवतां चतुर्णां हविर्भूजां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः (सन्) तपस्यति ॥

व्याख्या—(हे सीते !) नाम्ना = अभिधानेन, सुतीक्ष्णः, सुतीक्ष्णनामेति भावः। चरितेन = चरित्रेण, दान्तः = तपःक्लेशसह, असौ = दूरस्थः, अपरः = अन्यः, तपस्वी = तापसः, एधवताम् = इन्धनयुक्तानां, चतुर्णां = चतुःसंख्यकानां, दिक्चतुष्टयस्थितानामित्यर्थः। हविर्भुजाम् = अग्नीनां, मध्ये = अन्तरे, ललाटन्तपसप्तसप्तिः = सूर्याऽभिमुखः, सन्नित्यर्थः, तपस्यति = तपश्चरति ॥ ४१ ॥

भावार्थः—हे सीते ! सुतीक्ष्णनामकः तपःक्लेशसहोऽसावपरस्तापसश्चतुर्षुदिक्षु चतुरोऽग्नीनाधाय स्वयं सूर्याऽभिमुखः सन् तपश्चरति ॥ ४१ ॥

अनुवादः—हे सीते ! सुतीक्ष्ण नामवाले, तपस्याके क्लेशको सहनेवाले ये दूसरे तपस्वी, लकड़ियोंसे युक्त चार अग्नियोंके बीचमें ललाटको सन्तप्त करनेवाले सूर्यकी ओर अभिमुख होते हुए तपस्या कर रहे हैं॥ ४१ ॥

टिप्पणी—नाम्ना = यहाँपर "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे तृतीया हुई है। सुतीक्ष्णः = सुतीक्ष्ण ऋषिने दण्डकारण्यमें पहले सीता, राम और लक्ष्मणका सत्कार किया था ऐसा वर्णन रामायणमें मिलता है। दान्तः =

१. "हि तप्स्ये" ति पुस्तकान्तरपाठः।

दमु + क्तः । "तपःक्लेशसहो दान्तः" इत्यमरः । तपस्वी = तपः अस्याऽस्तीति, 'तपस्' शब्दसे "तपःसहस्राभ्यां विनीनी" इस सूत्रसे विनिप्रत्यय होकर 'सु' विभक्तिमें "सौ च" इससे दीर्घ हुआ है। एधवताम् = एधाः सन्ति येषु ते एधवन्तः, तेषाम्, यहाँपर "एध" शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप् (मत्) प्रत्यय होकर "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे "म" के स्थानमें "व" हुआ है।

"काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित् स्त्रियाम् ।" इत्यमरः । हविर्भुजां = हवींषि भुञ्जन्तीति हविर्भुजः तेषाम्, यहांपर "हविस्" = उपपदपूर्वक "भुज पालनाऽभ्यवहारयोः" धातुसे क्विप् प्रत्यय हो गया है (उपपदसमासः)। ललाटन्तपसप्तसप्तिः = ललाटं तपतीति ललाटन्तपः, यहाँपर 'ललाट' उपपदपूर्वक "तप संतापे" धातुसे "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" इस सूत्रसे "खश्" प्रत्यय होकर "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इससे "मुम्" आगम हुआ है। (उपपदसमासः) सप्त सप्तयो यस्य स सप्तसप्तिः (बहु०) "वाजिवाहाऽर्वहयसैन्धवसप्तयः । "इत्यमरः । सूर्यके सात घाड़े हैं, इसलिए वे "सप्तसप्ति" कहलाते हैं। ललाटन्तपः सप्तसप्तिः यस्य सः (बहु०) । सूर्यको देखनेवाले पुरुषके ललाटमें अवश्य ही ताप होता है।

तपस्यति = तपश्चरति, यहाँपर "तपस्" शब्दसे "कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः" इससे क्यङ्प्रत्यय होकर "तपस्य" इस समुदायको 'सनाद्यन्ता धातवः" इससे धातुसंज्ञा होकर ङित् (ङकारकी इत्संज्ञा) होनेसे "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" इससे आत्मनेपदकी प्राप्ति थी परन्तु "तपसः परस्मैपदं च" इससे परस्मैपद हुआ । उपजाति छन्द है ॥ ४१ ॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि ।
नलं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) जनितेन्द्रशङ्कम् अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजाऽर्धसन्दर्शितमेखलानि सुराऽङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि विकर्तुम् अलं न ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) जनितेन्द्रशङ्कम्=उत्पादितपुरुहूतसन्देहम्, अमुं=सुतीक्ष्णं, सहासप्रहितेक्षणानि=हास्यपूर्वकप्रेरितनेत्राणि, व्याजाऽर्धसन्दर्शितमेखलानि=अपदेशेषत्प्रदर्शितरशनानि, सुरांगनाविभ्रमचेष्टितानि=अप्सरोविलास-

चेष्टाः, विकर्तुं=स्खलयितुम्, अलं=समर्थानि, न=बभूवुः, इन्द्रप्रेषिता अप्सरसोऽपि सुतीक्ष्णस्य तपः स्खलयितुं न समर्था बभूवुरिति भावः ।। ४२ ।।

भावार्थः—हे सीते ! इन्द्रशङ्कां जनयन्तं सुतीक्ष्णं देवेन्द्रप्रेरिता अप्सरसः हासपूर्वककटाक्षादिभिः विलासचेष्टाभिरपि स्खलयितुं समर्था न बभूवुः ।।४२।।

अनुवादः—हे सीते ! तपस्यासे इन्द्रकी शङ्काको उत्पन्न करनेवाले सुतीक्ष्ण मुनिको हास्यपूर्वक कटाक्षोंसे और जिनमें बहानेसे मेखलाके अर्धभाग दिखलाये गये हैं अप्सराओंकी ऐसी विलासचेष्टाएँ भी तपस्यासे भ्रष्ट करनेके लिये समर्थ नहीं हुईं ।। ४२ ।।

टिप्पणी—जनितेन्द्रशङ्कम्–इन्द्रस्य शंका (ष० त०), जनिता इन्द्रशंका येन, तम् (बहु०) । सहासप्रहितेक्षणानि=हसनं हासः, हस+घञ् । हासेन सहितं सहासम्, (तुल्ययोगबहु०) ईक्षणानि येषु तानि (बहु०) । व्याजाऽर्धसन्दर्शितमेखलानि=अर्धं सन्दर्शिता (सुप्सुपा०) । "पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके" इत्यमरः । व्याजेन अर्धसन्दर्शिता (तृ० त०) व्याजाऽर्धसन्दर्शिता मेखला येषु तानि (बहु०) । सुराऽङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि–प्रशस्तानि अङ्गानि आसां ता अंगनाः, "लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः" इस सूत्रसे "अंगात्कल्याणे" इस वार्तिकके अनुसार कल्याण अर्थमें न प्रत्यय और स्त्रीत्वविवक्षामें टाप् प्रत्यय हो गया है । सुराणाम् अंगनाः (ष० त०) । तासां विभ्रमाः (ष० त०) सुराऽङ्गनाविभ्रमा एव चेष्टितानि (रूपक०), विकर्तुं=वि+कृ+तुमुन् । अलम्= "अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम् !" इत्यमरः, उपजाति छन्द है ।। ४२ ।।

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे[1]भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं[2]प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ।। ४३ ।।

अन्वयः—(हे सीते !) ऊर्ध्वबाहुः एषः अक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावं सव्येतरं भुजं मे सभाजने इतः प्राध्वं प्रयुङ्क्ते ।।४३।।

१. उग्रतेजाः" इति पाठान्तरम् ।

२. प्रांशु" इति पाठान्तरम् ।

व्याख्या—(हे सीते !) ऊर्ध्वबाहुः = उपरिभुजः, एषः = सुतीक्ष्णः, अक्षमालावलयम् = अक्षमाल्यकंकणं, मृगाणां=हरिणानां, कण्डूयितारं=कण्डूविनोदकं, कुशसूचिलावं = दर्भसूचिच्छेदकं, सव्येतरं = वामेतरं, दक्षिणमिति भावः। भुजं=बाहुं, मे = मम, सभाजने = सम्माननिमित्ते, इतः = अत्र, प्राध्वं=प्रकृतानुकूलबन्धं, प्रयुङ्क्ते = प्रेरयति ।। ४३ ।।

भावार्थः—हे सीते ! ऊर्ध्वभुजोऽयं सुतीक्ष्णोऽक्षमालाधारिणं मृगाणां कण्डूतिमपनयन्तं कुशच्छेदकं दक्षिणं भुजं मत्सम्माननिमित्तं मदभिमुखं करोति ।।४३।।

अनुवादः—हे सीते ! ऊर्ध्वबाहु ये सुतीक्ष्ण मुनि, अक्षमालारूप वलयवाले मृगोंको खुजलानेवाले, कुशरूप सूइयोंको काटनेवाले दक्षिण बाहुको मेरे सम्मानके निमित्त मेरी ओर दिखा रहे हैं।

टिप्पणी—ऊर्ध्वबाहुः = ऊर्ध्वौ बाहुः यस्य सः (बहु०)। अक्षमालावलयं= अक्षाणां माला (ष० त०), सा एव वलयं यस्य तम् (बहु०)। "अक्षमाला" तान्त्रिकपरिभाषाके अनुसार 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त वर्णोंकी मालाको कहते हैं, यहाँपर रुद्राक्षमाला प्रतीत होती है। मृगाणां = "कण्डूयितारम्" इस कृदन्त पदके योगमें "कर्तृकर्मणोः कृति" इस सूत्रसे कर्ममें षष्ठी हुई है। कण्डूयितारं= कण्डूयतीति कण्डूयिता, तम् "कण्डूञ् गात्रविघर्षणे" इस धातुसे 'ण्वुल्तृचौ' इस सूत्रसे तृच् प्रत्यय हुआ है। कुशसूचिलावं = कुशा एव सूचयः (रूपक०)। कुशसूचीः लुनातीति कुशसूचिलावः, तम्, कुशसूचि-उपपदपूर्वक "लूञ् छेदने" धातुसे "कर्मण्यण्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है। अक्षमालाको धारण करनेसे मुनिकी जपशीलता, मृगोंको खुजलाने से प्राणियोंमें दया और कुशोंको काटनेसे उनकी कार्यक्षमता प्रतीत होती है। सव्येतरं = सव्यात् इतरः तम्। सव्यशब्दसे 'इतर' शब्दके योगमें "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इस सूत्रसे पञ्चमी होकर पञ्चमीतत्पुरुष समास हुआ है। "वामं शरीरं सव्यं स्यात्" इत्यमरः। सभाजने = "सभाजप्रीतिसेवनयोः" इस धातुसे ल्युट् प्रत्यय हुआ है "निमित्तात्कर्मयोगे" इस सूत्रसे सप्तमी हुई है। इतः = अस्मिन्निति, यहाँपर "इदम्" शब्दसे सार्वविभक्तिक तसि प्रत्यय हुआ है। प्राध्वम् = "आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्" इत्यमरः। यह अव्यय है। उपजाति छन्द है ।। ४३ ।।

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) एषः वाचंयमत्वात् मम प्रणतिं किंचित् मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानव्यवधानमुक्ता दृष्टिं पुनः सहस्रार्ऽचिषि सन्निधत्ते ॥४४॥

व्याख्या—(हे सीते !) एषः = सुतीक्ष्णः, वाचंयमत्वात् = मौनव्रतित्वात्, मम = रामस्य, प्रणतिं = प्रणामं, किंचित् = ईषत्, मूर्ध्नः = शिरसः, कम्पेन = वेपथुना, प्रतिगृह्य = स्वीकृत्य, विमानव्यवधानमुक्तां = व्योमयानतिरोधानमुक्तां, दृष्टिं = नेत्रं, पुनः = भूयः, सहस्रार्ऽचिषि = सूर्ये, सन्निधत्ते = सम्यक् प्रवर्तयति ॥ ४४ ॥

भावार्ऽर्थः—हे सीते ! अयं सुतीक्ष्णो मौनव्रतित्वान्मदीयं प्रणामं स्तोकं शिरःकम्पेन प्रतिगृह्य पुष्पकव्यवधानरहितं नेत्रं पुनः सूर्ये प्रवर्तयति ॥ ४४ ॥

अनुवादः—हे सीते ! ये सुतीक्ष्ण ऋषि मौनव्रत लेनेसे मेरे प्रणामको शिर कुछ हिलानेसे स्वीकार कर पुष्पक विमानके व्यवधानसे छूटे हुए नेत्रोंको फिर सूर्यमें लगा रहे हैं ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—वाचंयमत्वात् = वाचं यच्छतीति वाचंयमः, यहाँपर "वाच्"-उपपदपूर्वक "यमु उपरमे" धातुसे "वाचि यमो व्रते" इस सूत्रसे खच् प्रत्यय होकर "वाचंयमपुरन्दरौ च" इस सूत्रसे मुम् आगमका निपातन हुआ है। वाचंयमस्य भावो वाचंयमत्वं तस्मात् । प्रणतिं = प्र + नम् + क्तिन् । प्रतिगृह्य = प्रति + ग्रह + क्त्वा (ल्यप्) । विमानव्यवधानमुक्तां = विमानेन व्यवधानं (तृ० त०), तस्मात् मुक्ता ताम् (ष० त०) । सुतीक्ष्ण मुनि सूर्याभिमुख होकर तप कर रहे थे, इसी बीचमें रामसे आरूढ़ पुष्पक विमानने सूर्यको व्यवहित कर दिया, उस (विमान) के चले जानेसे मुनिने फिर नेत्रोंको सूर्याभिमुख किया यह तात्पर्य है। सहस्रार्ऽचिषि = सहस्रम् अर्चींषि (किरणाः) यस्य स सहस्रार्ऽचिः, तस्मिन् (बहु०) । "ज्वालाभासोर्न पुंस्यर्चिः" इत्यमरः । सन्निधत्ते = सं + नि + धा (त्र्) लट् (त) । उपजाति छन्द है ॥४४ ॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत ॥५४॥

अन्वयः—(हे सीते !) शरण्यं पावनम् अदः तपोवनम् आहिताऽग्नेः शरभङ्गनाम्नः । यः चिराय अग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य मन्त्रपूतां तनुम्, अपि अहौषीत् ॥ ४५ ॥

व्याख्या--(हे सीते !) शरण्यं=रक्षणसमर्थं, पावनं=पवित्रतासम्पादकम्, अदः=दूरतःदृश्यमानं, तपोवनं=तपःस्थानम्, आहिताग्नेः=अग्निहोत्रिणः, शरभङ्गनाम्नः=शरभंगनामकस्य मुनेः, अस्तीति शेषः । यः=शरभंगः, चिराय=बहुकालपर्यन्तम्, अग्निं=वह्निं, समिद्भिः=इन्धनैः, सन्तर्प्य=तर्पयित्वा, मन्त्रपूतां=मन्त्रशुद्धां, तनुम् अपि=शरीरम् अपि । अहौषीत्=हुतवान् ॥ ४५ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! शरभंगनामकस्याऽग्निहोत्रिण इदं पावनं तपोवनमस्ति । यो बहुकालं यावत् काष्ठैरग्निं तर्पयित्वा शरीरमपि हुतवान् ॥ ४५ ॥

अनुवादः—हे सीते ! अग्निहोत्री शरभंग नामक मुनिका शरणागतोंका रक्षक पावन यह तपोवन है । जिन्होंने बहुत काल तक अग्निको समिधाओंसे तृप्त कर मन्त्रसे पवित्र अपने शरीरको भी हवन कर दिया था ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—शरण्यं=शरणे साधु, "शरण" शब्दसे "तत्र साधुः" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय हुआ है । पावनं=णिच्प्रत्ययाऽन्त 'पूङ् पवने" धातुसे "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस सूत्रसे "बहुल" ग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्तामें ल्युट् हुआ है । तपोवनं=तपसो वनम् (ष० त०) । आहिताऽग्निः,=आहिताः अग्नयः (दक्षिणाऽग्नि—गार्हपत्याहवनीयाः) येन सः आहिताग्नेः, तस्य, (बहु०) "वाऽऽहिताग्न्यादिषु" इस सूत्रसे विकल्पसे "आहित" शब्दका पूर्व निपात हुआ है, एक पक्षमें "अग्न्याहितः" ऐसा रूप भी बनता है । शरभंगनाम्नः=शरभंगो नाम यस्य स शरभंगनामा, तस्य (बहु०) । विराधको मारनेके अनन्तर रामचन्द्रजीने दण्डकारण्यकी यात्रामें शरभंग मुनिका आतिथ्य स्वीकार किया था। चिराय="चिरायचिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थकाः ।" इत्यमरः । यह अव्यय है । सन्तर्प्य=सं+तृप्+णिच्+क्त्वा (ल्यप्). मन्त्रपूतां=मन्त्रेण पूता, ताम् (तृ० त०) । अहौषीत्="हु दानाऽदनयोः" इस धातुसे लुङ् हुआ है "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इससे वृद्धि हुई है । उपजाति छन्द है ॥ ४५ ॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) अधुना तस्य अतिथीनां सपर्या छायाविनीताऽध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसंभाव्यफलेषु अमीषु पादपेषु सुपुत्रेषु इव स्थिता ॥४६॥

व्याख्या—(हे सीते !) अधुना=अस्मिन् समये, तस्य=शरभङ्गस्य, अतिथीनाम्=आगन्तुकानां, सपर्या=पूजा, अतिथिपूजेति भावः । छायाविनीताऽध्वपरिश्रमेषु=छायाऽपनीतमार्गायासेषु, भूयिष्ठसंभाव्यफलेषु=बहुतमश्लाघ्यफलेषु, अमीषु=एतेषु, पादपेषु=वृक्षेषु, सुपुत्रेषु इव=उत्तमाऽऽत्मजेषु इव, स्थिता=विद्यमाना, अस्तीति शेषः । शरभङ्गस्याश्रमेऽतिथीनां पूजा तत्पुत्रैरिव वृक्षैरनुष्ठीयत इति भावः ॥ ४६ ॥

भावार्थः—हे सीते ! साम्प्रतं शरभङ्गस्याश्रमे छायाऽपनीतमार्गपरिश्रमैः प्रचुरफलशोभितैर्वृक्षैः सत्पुत्रैरिवाऽतिथीनां पूजा विधीयते ॥ ४६ ॥

अनुवादः—हे सीते ! इस समय शरभंगके आश्रममें अतिथियोंकी पूजा छायासे मार्गके परिश्रमको हटानेवाले प्रचुर श्लाघनीय फलोंसे युक्त सुपुत्रोंके समान इन वृक्षोंमें रह रही है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—अतिथीनाम्=अविद्यमाना (अनिश्चिता) तिथिर्येषां ते अतिथयः तेषाम् (नञ्बहु०) । द्विजाति गृहस्थोंके नित्यकर्म पञ्चमहायज्ञोंमें अतिथिपूजा भी एक यज्ञ है, जैसा कि भगवान् मनुने लिखा है—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥" (३–७०)

अर्थात् अध्यापन, ब्रह्मयज्ञ, पितरोंका नित्यश्राद्ध और तर्पण पितृयज्ञ, हवन, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव, भूतयज्ञ और अतिथिकी पूजा करना मनुष्ययज्ञ है । सपर्या="पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्याऽर्चार्हणाः समा ।" इत्यमरः । छायाविनीताऽध्वपरिश्रमेषु=छायाभिर्विनीतः (तृ० त०), अध्वनः परिश्रमः (ष० त०), छायाविनीतः अध्वपरिश्रमः यैस्ते, तेषु (बहु०) । भूयिष्ठसंभाव्यफलेषु=भूयिष्ठानि संभाव्यानि फलानि येषां ते, तेषु (बहु०) । पादपेषु=पादैः (मूलैः) पिबन्तीति पादपाः, तेषु (पाद+पा+कः) । सुपुत्रेषु=शोभनाः

पुत्रः सुपुत्राः, तेषु, "कुगतिप्रादयः" इति समासः । स्थिता=स्था+क्तः+टाप् । उपजाति छन्द है ।। ४६ ।।

धारास्वनोद्‌गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि ! चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ।।४७।।

अन्वयः—धारास्वनोद्‌गारिदरीमुखः शृंगाऽग्रलग्नाऽम्बुदवप्रपङ्कः असौ चित्रकूटः हे वन्धुरगात्रि ! दृप्तः ककुद्मान् इव मे चक्षुः वध्नाति ।। ४७ ।।

व्याख्या—धारास्वनोद्‌गारिदरीमुखः=निर्झरधाराशब्दोद्‌गारिकन्दरमुखः नैरन्तर्यशब्दोद्‌गारिदरीवदनो वा, शृंगाऽग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः=शिखराऽग्रसम्बद्ध-मेघवप्रक्रीडासक्तपङ्कः विषाणाऽग्रसम्बद्धमेघवप्रक्रीडासक्तपङ्को वा, असौ=अयं, चित्रकूटः=चित्रकूटपर्वतः, हे वन्धुरगात्रि=उन्नताऽऽनताऽङ्गि, सीते ! दृप्तः=दर्पयुक्तः ककुद्मान् इव=वृषभ इव, मे=मम, चक्षुः=नेत्रं, बध्नाति=अनन्या-सक्तं करोति ।। ४७ ।।

भावार्थः—हे सीते ! अयं चित्रकूटो यत्र कन्दरं निर्झरधाराशब्देन प्रति-ध्वनितमस्ति, यत्र कूटाग्रे वप्रपङ्क इव मेघो लग्नोऽस्ति, स सदर्पो वृषभ इव मे नेत्रमाकर्षति ।। ४७ ।।

अनुवादः—निर्झरधाराओंके शब्द जिसके गुफारूप मुख निकाल रहे हैं किसके शिखरके अग्रभागमें वप्रपंकके समान मेघ लग रहा है ऐसा चित्रकूट पर्वत उन्नत और अवनत अवयवोंसे सम्पन्न होने वाली हे सीते ! डकारनेवाले और सींगके अग्रभागमें वप्रपंकसे युक्त दर्प-सम्पन्न सांड़के समान मेरे नेत्रोंको आकृष्ट कर रहा है ।। ४७ ।।

टिप्पणी—धारास्वनोद्‌गारिदरीमुखः—धाराणां (निर्झरधाराणाम्) स्वनः (ष० त०), तम्; अथवा धारया (नैरन्तर्येण) स्वनम् उद्गिरतीति धारास्वनोद्‌गारि, यहाँपर धारास्वन+उद्-उपसर्गपूर्वक "गॄ निगरणे" धातुसे णिनि प्रत्यय हुआ है । दरी एव मुखम् (रूपक०) । धारास्वनोद्‌गारि दरीमुखं यस्य सः (वहु०) । निर्झरधाराओंके अथवा 'नैरन्तर्यसे' शब्दको प्रकाश करनेवाली गुफारूप मुखवाला, इसका तात्पर्य चित्रकूट पर्वतसे है । चित्रकूट पर्वत प्रयागके निकटवर्ती है । शृंगाऽग्रलग्नाम्बुदवप्रपंकः=शृंगस्य (शिखरस्य विषाणस्य च) अग्रम् (ष० त०), तस्मिन् लग्नः (ष० त०) । अम्बु

ददातीति अम्बुदः, अम्बु + दा + कः, उपपदसमासः। शृङ्गाऽग्रलग्नः अम्बुद एव वप्रपङ्को यस्य सः (बहु०)। इस श्लोक में चित्रकूट पर्वत की सांड़से उपमा दी गई है। जिस तरह साँड़ डकारता है वैसे ही चित्रकूट पर्वतकी गुफारूप मुखसे झरनोंके शब्दका उद्गार हो रहा है। जैसे वप्र (मिट्टीके ढेर) में क्रीडा करनेपर साँड़के सींगमें पंक (कीचड़) लग जाता है उसी तरह इस (चित्रकूट) के शृङ्ग (चोटी) के अग्रभागमें मेघरूप वप्रपंक लग गया है इस प्रकार इस श्लोक में रूपक और उपमामें अंगांगिभाव होनेसे संसृष्टि अलंकार है। हे वन्धुरगात्रि=बन्धुराणि गात्राणि यस्याः सा वन्धुरगात्री तत्सम्बुद्धौ, (बहु०)। यहाँपर "गात्र" पदसे गात्राऽवय अंगोमें लक्षणा है। स्त्रीत्वविवक्षामें "अंगगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे ङीष् हुआ है। "बन्धुरं तून्नताऽऽनतम्" इत्यमरः। दृप्तः=दृप् + क्तः। ककुद्मान् = ककुद् (वृषस्कन्धः), अतिशयितः अस्यास्तीति, ककुद् + मतुप्। यहाँपर "ककुद्मत्" शब्दके "झयः" इस सूत्रसे 'म' के स्थानमें "व" की प्राप्ति,थी परन्तु यवादिगणमें पाठ होनेसे नहीं हुई। बध्नाति= क्र्यादिस्थ "वन्ध बन्धने" धातुसे लट्, इन्द्रवज्रा वृत्त है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा विदूराऽन्तरभावतन्वी एषा मन्दाकिनी सरित् नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावली इव भाति ॥ ४८ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा = निर्मलनिःस्पन्दप्रवाहा, विदूराऽन्तरभावतन्वी = विप्रकृष्टाऽवकाशभावसूक्ष्मा, एषा = इयं, मन्दाकिनी= मन्दाकिनीनामधेया, सरित् = नदी, नगोपकण्ठे = चित्रकूटपर्वतसमीपे, भूमेः = पृथिव्याः, कण्ठगता = गलस्थिता, मुक्ताऽऽवली इव=मौक्तिकमाला इव, भाति= शोभते, अत्र चित्रकूटपर्वतस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य च कण्ठत्वं प्रतीयते ॥४८॥

भावार्थः—हे सीते ! निर्मला निश्चलप्रवाहा च दूरत्वात्सूक्ष्मत्वेन प्रतीयमाना एषा मन्दाकिनी नाम काचिन्नदी चित्रकूटनिकटे भूमेः कण्ठस्थिता मुक्तामालेव शोभते ॥ ४८ ॥

अनुवादः—हे सीते ! निर्मल और स्थिर प्रवाहवाली दूरताके कारण

पतली-सी दिखाई देनेवाली मन्दाकिनी नदी, चित्रकूट पर्वतके समीपमें कण्ठ स्थित मोतियोंकी मालाके समान शोभित हो रही है ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा—प्र + सद् = क्तः = प्रसन्नः । प्रसन्नः स्तिमितः प्रवाहो यस्याः सा (बहु०) । विदूराऽन्तरभावतन्वी = विदूरं च तत् अन्तरम् (क० धा०) । विदूराऽन्तरस्य भावः (ष० त०) । तस्मात् तन्वी (प० त०) । मन्दाकिनी = यह चित्रकूटकी निकटवर्तिनी कोई नदी है । नगोपकण्ठे—न गच्छतीति नगः, "अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे नञ्–उपपदपूर्वक गम् धातुसे डप्रत्यय हुआ है "नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे नञ् का प्रकृतिभाव हुआ है । "शैलवृक्षौ नगावगौ" इत्यमरः । नगस्य उपकण्ठः तस्मिन् (ष० त०) । कण्ठगता = कण्ठं गता, यहाँपर "द्वितीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः" इस सूत्रसे द्वितीयातत्पुरुष हुआ है । भाति = भा + लट्–तिप् । इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलंकार है । उपजाति छन्द है ॥ ४८ ॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवांकुरापाण्डुकपोलशोभी मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) अनुगिरं सुजातः अयं तमालः । यस्य सुगन्धि प्रवालम् आदाय मया ते यवाऽङ्कुराऽऽपाण्डुकपोलशोभी अवतंसः परिकल्पितः ॥ ४९ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) अनुगिरं = चित्रकूटपर्वतसमीपे, सुजातः = सुन्दरः, अयं = निकटवर्ती, तमालः = तापिच्छः दृश्यत इति शेषः । यस्य = तमालस्य, सुगन्धि = मनोहरगन्धयुक्तं, प्रवालं = पल्लवम्, आदाय = गृहीत्वा, मया = रामेण, ते = तव, यवाऽङ्कुराऽऽपाण्डुकपोलशोशी = दीर्घशूकाऽङ्कुरपाण्डुरगण्डशोभी, अवतंसः = कर्णाऽलंकारः, परिकल्पितः = रचितः ॥ ४९ ॥

भावार्थः—हे सीते ! चित्रकूटसमीपे अयं सुन्दरस्तमालवृक्षः । यस्म सौरभयुक्तं प्रवालं मया तव कर्णाऽलंकारत्वेन परिकल्पितम् ॥ ४९ ॥

अनुवादः—हें सीते ! चित्रकूट पर्वतके समीपमें सुन्दर यह तमाल वृक्ष है । जिसके सुगन्धि पल्लवको लेकर मैंने यवाऽङ्कुरके समान तुम्हारे पीले कपोल में शोभित होनेवाला कर्णाऽलङ्कार बनाया था ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—अनुगिरं=गिरेः समीपे, यहाँपर समीप अर्थमें "अव्ययं विभक्तिसमीप०" इत्यादिसूत्रसे अव्ययीभाव समास होकर "गिरेश्च सेनकस्य" इस सूत्र से समासाऽन्त टच् प्रत्यय हुआ है, एक पक्ष में "अनुगिरि" ऐसा रूप भी बन जाता है। सुजातः=जननं जातं, जन+क्तः। शोभनं (जन्म) यस्य सः (बहु०)। सुगन्धि=शोभनो गन्धो यस्य, तत् (बहु०), यहाँ पर "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इस सूत्रसे समासाऽन्त इप्रत्यय हुआ है। आदाय=आङ्+दा+क्त्वा (ल्यप्) यवाऽङ्कुराऽऽपाण्डुकपोलशोभी=आ (समन्तात्) पाण्डुः आपाण्डुः (गतिसमासः) आपाण्डुश्चाऽसौ कपोलः (क० धा०) यवाऽङ्कुर इव आपाण्डुकपोलः, यहाँपर "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे कर्मधारय समास हुआ है। आपाण्डुकपोले शोभते तच्छीलः आपाण्डुकपोलशोभी (ताच्छील्ये णिनिः, उपपदसमासः)। कल्पितः—कृपू=क्तः। इस श्लोकमें उपमा अलंकार है। उपेन्द्रवज्रा छन्द है। "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" यह इसका लक्षण है ॥ ४९ ॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात् फलबन्धिवृक्षम्।
वनं तपःसाधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—(हे सीते !) अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वम् अपुष्पलिंगात् फलबन्धिवृक्षम् आविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् अत्रेः तपसः साधनम् एतत् वनम् ॥५०॥

व्याख्या—(हे सीते !) अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वं=दण्डभयं विनाऽपि शिक्षितजन्तुयुक्तम्, अपुष्पलिंगात्=पुष्परूपनिमित्तं विनाऽपि, फलबन्धिवृक्षं=सफलवृक्षसहितम् (अतएव) आविष्कृतोदग्रतरप्रभावं=प्रकाशितोन्नततरसामर्थ्यम्, अत्रेः=अत्रिनामकस्य मुनेः, तपसः=तपश्चरणस्य, साधनं=कारणम्, एतत्=इदम्, वनम्=अरण्यम् अस्तीति शेषः ॥ ५० ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! इदमत्रिमुनेः तपसः साधनं वनं 'यत्र दण्डभयं विनापि जन्तवः शिक्षिताः' पुष्परूपनिमित्तं विनाऽपि फलवन्तो वृक्षा वर्तन्ते।

अनुवादः—हे सीते ! दण्डका भय न होनेपर भी विनीत जन्तुओंसे युक्त विना फूलोंके फल लगानेवाले, वृक्षोंसे सम्पन्न अतएव उन्नत प्रभाववाला यह 'अत्रि' मुनिकी तपस्याका साधन-वन है ॥ ५० ॥

टिप्पणी—अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वम्—त्रसनं त्रासः, त्रस+घञ्। निग्रहात् त्रासः (प० त०)। अविद्यमानो निग्रहत्रासो येषां ते अनिग्रहत्रासाः,

यहाँपर "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इस वार्तिकसे नञ्बहुव्रीहिसमास हुआ है। अनिग्रहत्रासाः विनीताः सत्त्वा यस्मिंस्तत् (बहु०)। अपुष्पलिंगात्=पुष्पम् एव लिंगं (रूपक०), न पुष्पलिंगं तस्मात् (नञ्०)। फलवन्धिवृक्षं=फलानि वध्नन्तीति फलबन्धिनः, फल+बन्ध+णिनिः (उपपद०)। फलवन्धिनो वृक्षा यस्मिन् तत् (बहु०)। आविष्कृतोदग्रतरप्रभावम्—अतिशयेन उदग्रः उदग्रतरः, यहांपर 'उदग्र' शब्दसे "द्विवचनविभज्योपपदे तरवीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय हुआ है। आविः+कृ+क्तः=आविष्कृतः, यहांपर विसर्गके स्थानमें "इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य" इस सूत्रसे मूर्धन्य षकार हुआ है। वाविष्कृतः उदग्रतरः प्रभावो यस्मिंस्तत् (बहु०)। अत्रेः=अत्रि ऋषि सात ऋषियोंमें परिगणित एक ऋषि हैं, जैसे कि—

"कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः।
जमदग्नेर्वशिष्ठश्च (साध्वी चैवाऽप्यरुन्धती)॥"

दूसरे मतके अनुसार भी अत्रि परिगणित हैं, जैसे—

मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुरङ्गिराः।
वशिष्ठश्च महाभागः सप्त ते ब्रह्मणः सुताः॥"

महर्षि अत्रिकी पत्नी "अनुसूया" पतिव्रताओंमें श्रेष्ठ मानी गई हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर अनुसूयाके गर्भसे कलारूपसे अवतीर्ण होकर चन्द्र, दत्तात्रेय और दुर्वासाके रूपमें उत्पन्न हुए हैं, ऐसा पौराणिक उपाख्यान मिलता है। दश साल तक अनावृष्टि होनेपर उन्होंने फल-मूलको उत्पन्न किया और स्नान आदि की सहूलियतके लिए अनुसूयाने अपने आश्रमके निकट प्रदेशसे गङ्गाको प्रवाहित किया था ऐसा रामायण में वर्णन है। कहींपर चन्द्रमाको अत्रिमुनिके नेत्रसे उत्पन्न भी बतलाया है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके निम्नस्थ श्लोक में धर्मशास्त्रके रचयिताओंमें अत्रिका भी उल्लेख किया हैं।

"मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमाऽऽपस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥ आचाराध्यायः।

रामचन्द्रजी वनवासके समय सीता और लक्ष्मणके साथ अत्रि मुनिके आश्रममें कुछ समयतक ठहरे थे। इनका धर्मशास्त्र उपलब्ध भी है। साथं=

साध+ल्युट्। इस श्लोकमें दण्डमयरूप कारणके न रहनेपर भी जन्तुओंका विनीतस्वरूप कार्यके रहनेसे एवम् पुष्परूप कारणके बिना भी फलरूप कार्यकी उत्पत्ति होनेसे विभावना अलंकार है, इसका सोदाहरण लक्षण चन्द्रालोकमें लिखा है—

"विभावना विनाऽपि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।
पश्य लाक्षारसाऽसिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्॥ ५-७७॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम्॥५१॥

अन्वयः—(हे सीते!) अत्र अनुसूया सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां त्र्यम्बकमौलिमालां त्रिस्रोतसं तपोधनानाम् अभिषेकाय प्रवर्तयामास किल॥ ५१॥

व्याख्या—(हे सीते!) अत्र=अस्मिन् वन इत्यर्थः। सनुसूया=अत्रिपत्नी, सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां=सप्तर्षिकरनिष्कासितसुवर्णकमलां, त्र्यम्बकमौलिमालां=शिवशिरःस्रजं, त्रिस्रोतसं=गङ्गां, तपोधनानां=तपस्विनाम्, अभिषेकाय=स्नानाय, प्रवर्तयामास=प्रवाहयामास। किल॥ ५१॥

भावाऽर्थः—हे सीते! अस्मिन्वने अनुसूया स्वर्णकमलप्रसूतिं शिवजटाजूटस्थितां भागीरथीं तपस्विनां स्नानाय प्रवाहयामास किल॥ ५१॥

अनुवादः—हे सीते! इस वनमें अनुसूयाने सप्तर्षियोंके हाथोंसे तोड़े गये सुवर्णकमलोंसे सम्पन्न और शिवजीके शिरकी मालाके समान गङ्गाजीको तपस्वियोंके स्नानके लिए प्रवाहित कराया॥ ५१॥

टिप्पणी—सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां=सप्त च ते ऋषयः सप्तर्षयः, यहाँपर "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इस सूत्रसे समास हुआ है। सप्तर्षियोंका वर्णन पचासवें श्लोकमें किया गया है। सप्तर्षीणां हस्ताः (ष० त०), तैः उद्धृतानि (तृ० त०), हेम्नः पद्मानि (ष० त०), सप्तर्षिहस्तोद्धृतानि हेमपद्मानि यस्याः, ताम् (बहु०)। त्र्यम्बकमौलिमालां=त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य स त्र्यम्बकः (बहु०), त्र्यम्बकस्य मौलिः (ष० त०), तस्य माला, ताम् (ष० त०)। त्रिस्रोतसं=त्रीणि स्रोतांसि यस्याः सा त्रिस्रोताः, ताम् (बहु०)। तपोधनानां=तप एव धनं येषां ते तपोधनाः, तेषाम् (बहु०)। अभिषेकाय=अभिषेचनम्; अभिषेकः, तस्मै, अभि+सिच्+घञ् (भावे), "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादि सूत्रसे

षत्व हुआ है। "तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या" इस वार्तिकसे चतुर्थी हुई है। प्रवर्तयामास=प्र+वृतु+णिच्+लिट्+तिप्। किल=यह ऐतिह्य अर्थका द्योतक अव्यय है। उपजाति छन्द है ।। ५१ ।।

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ।।

अन्वयः—(हे सीते !) वीराऽऽसनैः ध्यानजुषाम् ऋषीणां समध्यासितवेदिमध्याः अमी शाखिनः अपि निवातनिष्कम्पतया लोगाऽधिरूढा इव विभान्ति ।।

व्याख्या—(हे सीते !) वीराऽऽसनैः=जयसाधनैः आसनविशेषैः, ध्यानजुषां=ध्यानवताम्, ऋषीणां=सत्यवचसां, समध्यासितवेदिमध्याः=समधिरूढवेदिमध्यभागाः, अमी=एते, शाखिनः अपि=वृक्षा अपि, निवातनिष्कम्पतया=वातरहितप्रदेशे कम्परहितत्वेन, योगाधिरूढा इव,=ध्यानभाज इव, विभान्ति शोभन्ते, निश्चलाऽङ्गा भवन्तीति भावः ।। ५२ ।।

भावाऽर्थः—हे सीते ! वीरासनैर्ध्यायिनामृषीणां वेदिमध्यस्थिता अमी वृक्षा अपि निवाते निष्कम्पतया ध्यानभाज इव शोभन्ते ।। ५२ ।।

अनुवादः—हे सीते ! वीरासनसे ध्यान करनेवाले ऋषियोंके वेदिमध्यमें स्थित ये वृक्ष भी वायुरहित प्रदेशमें कम्पनरहित होनेसे योगाऽभ्यास करते हुए की तरह हो रहे हैं ।। ५२ ।।

टिप्पणी—वीराऽऽसनैः=वीरस्य आसनानि, तैः (ष० त०) राजयोगके आठ अंगोंमें आसन भी एक अंग है। पद्मासन, वीरासन आदि ८४ आसन योगशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। वीरासनका लक्षण वसिष्ठने लिखा है—

"एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चाऽन्यं वीराऽऽसनमुदाहृतम् ।।"

अर्थात् एक पैरको एक ऊरुमें और दूसरे पैरको दूसरे ऊरुमें रखकर बैठनेको "वीराऽऽसन कहते हैं।

वीरासनको "पर्यङ्कवन्ध" भी कहते हैं। हेमाद्रिने गरुडपुराणका हवाला देकर इसका लक्षण दिया है—

---

१. "म्पी"ति पाठान्तरम्।

"उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि ।
एतद्वीरासनं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ।।"

अर्थात् दिनभर खड़े रहना और रात को बैठे रहना इसको "वीरासन" कहते हैं । इसको करनेसे महापातकका नाश होता है ।

ध्यानजुषां=ध्यानं जुषन्त इति ध्यानजुषः, तेषाम्, ध्यान-उपपदपूर्वक "षजी प्रतिसेवनयोः" धातुसे क्विप् प्रत्यय होकर "ध्यानजुष्" पद बनता है । (उपपदसमासः) ।

ऋषीणाम्=ऋषन्ति (जानन्ति, वेदमन्त्रं पश्यन्ति) इति ऋषयः तेषाम् । "ऋषी गतौ" धातुसे "इगुपधात्कित्" इस औणादिक सूत्रसे इन् प्रत्यय हुआ है । वेदमन्त्रद्रष्टाको "ऋषि" कहते हैं । यहाँपर इसका मुनिके अर्थमें प्रयोग हुआ है । "ऋषयः सत्यवचसः" इत्यमरः । समध्यासितवेदिमध्याः=वेदेः मध्यम् (ष० त०) समध्यासितं वेदिमध्यं यैस्ते (बहु०) । शाखिनः=शाखाः सन्ति येषां ते, यहाँपर 'शाखा' शब्दसे "व्रीह्यादिभ्यश्च" इस सूत्रसे इनि प्रत्यय हुआ है । निवातनिष्कम्पतया=निर्गतो वातो यस्मात्तत् निवातम् (वातरहितस्थानम्), बहुव्रीहिः, निर्गतः कम्पो येभ्यस्ते निष्कम्पाः (बहु०), निष्कम्पाणां भावो निष्कम्पता, (निष्कम्प+तल्+टाप्) निवाते निष्कम्पता, तया (स० त०) । योगाऽधिरूढाः=योगम् अधिरूढाः (द्वि० त०) । "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस पातञ्जलयोगदर्शनके सूत्रके अनुसार चितवृत्तिके निरोधको 'योग' कहते हैं । इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार और उपजाति छन्द है ।। ५२ ।।

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ।।५३।।

अन्वयः—(हे सीते !) त्वया पुरस्ताद् य उपयाचितः श्याम इति प्रतीतः सः अयं वटः, फलितः (सन्) सपद्मरागो गारुडानां मणीनां राशिः इव विभाति ।। ५३ ।।

व्याख्या—(हे सीते !) त्वया=भवत्या, पुरस्तात्=पूर्वं, यः–वटः, उपयाचितः=प्रार्थितः, श्याम इति=श्यामनामकः, प्रतीतः=प्रख्यातः, सः अयं वटः=न्यग्रोधः, फलितः=संजातफलः सन्, सपद्मरागः=पद्मरागसहितः गारुडानां=मरकतानां, मणीनां=रत्नानां, राशिः इव=समूह इव, विभाति=शोभाते ।। ५३ ।।

भावार्थः—हे सीते ! त्वया पूर्वं प्रार्थितः श्यामनामको वटः साम्प्रतं फलितः सन् पद्मरागसहितो मरकतराशिरिव शोभते ॥ ५३ ॥

अनुवादः—हे सीते ! तुमने पहले जिसकी प्रार्थना की थी "श्याम" नामसे प्रसिद्ध वह वरगद इस समय फलवाला होता हुआ पद्मपरागमणियोंसे युक्त पन्ना मणियोंके समूहके समान शोभित हो रहा है ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—उपयाचितः = उप + याच् + क्तः । प्रतीतः = प्रति + इण् + क्तः । "प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः" । इत्यमरः । सीताजीने वटसे जो प्रार्थना की थी वह रामायणमें इस प्रकारसे है—

"न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् ।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष ! पालयेन्मे व्रतं पतिः ॥"

अर्थात् सीताजीने उस वड़के पास जाकर "हे महावृक्ष ! तुम्हें नमस्कार है, मेरे पतिव्रतका पालन करें" ऐसा वाक्य कहा । फलितः = फलानि संजातानि अस्य सः, यहाँपर फल शब्दसे "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इस वार्तिक से इतच् प्रत्यय हुआ है । सपद्मरागः = पद्मरागैः सहितः (तुल्ययोग०) । गारुडानां = गरुडस्य इमे गारुडाः, तेषाम् "तस्येदम्" इससे अञ् प्रत्यय हुआ है । "गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः" इत्यमरः ।

इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । उपजाति छन्द है ॥ ५३ ॥

अथाऽतः श्लोकचतुष्टयेन प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव[1] ॥५४॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥५५॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छाया विलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥५६॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥५७॥

अन्वयः—हे अनवद्याऽङ्गि ! क्वचित् प्रभालेपिभिः इन्द्रनीलैः अनुविद्धा मुक्तामयी यष्टिः इव, अन्यत्र इन्दीवरैः उत्खचिताऽन्तरा सितपङ्कजानां माला

---

१. "रुद्ग्रथिताऽन्तरेव" इति पाठान्तरम् ।

इव क्वचित् कादम्बसंसर्गवती प्रियमानसानां खगानां पंक्तिः, इव, अन्यत्र कालाऽगुरु दत्तपत्रा भुवः चन्दनकल्पिता भक्तिः इव, क्वचित् छायाविलीनैः तमोभिः शवलीकृता चान्द्रमसी प्रभा इव अन्यत्र रन्ध्रेषु आलक्ष्यनभः प्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा इव, क्वचित् कृष्णोरगभूषणा भस्माऽङ्गरागा ईश्वरस्य तनुः इव यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गङ्गा विभाति। पश्य ॥ ५४–५७ ॥

व्याख्या—हे अनवद्याऽङ्गि=हे अनिन्दिताऽवयवे ! सीते, क्वचित्=कुत्रचित्, प्रभालेपिभिः=कान्तिलेपिभिः, इन्द्रनीलैः=मरकतैः, अनुविद्धा=सहगुम्फिता, मुक्तामयी=मौक्तिकमयी, यष्टिः इव=पंक्तिः इव, हाराऽऽवलिरिवेति भावः। यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गङ्गा विभाति, पश्येत्यत्र सम्बन्धः, एवं परत्राऽपि। अन्यत्र=अन्यस्मिन्प्रदेशे, इन्दीवरैः=नीलोत्पलैः, उत्खचिताऽन्तरा=उद्गुम्फितमध्यभागा, सितपङ्कजानां=श्वेतकमलानां, माला इव=स्रक् इव, क्वचित्=कुत्रचित्, कादम्बसंसर्गवती=नीलहंससंसृष्टा, प्रियमानसानाम्=अभीष्टमानससरोवराणां, खगानां=पक्षिणां राजहंसानामिति भावः। पंक्तिः इव=आवलिः इव, अन्यत्र=अन्यस्मिन् स्थाने, कालाऽगुरुदत्तपत्रा=कृष्णागुरुरचितमकरिकापत्रा, भुवः=पृथिव्याः, चन्दनकल्पिता=श्रीखण्डलेपनिर्मिता, भक्तिः इव=रेखा इव, क्वचित्=कुत्रचित्, छायाविलीनैः=अनातपस्थितैः, तमोभिः=अन्धकारैः, शवलीकृता=चित्रीकृता, चान्द्रमसी=चान्द्री, प्रभा इव=कान्तिः इव, चन्द्रिकेवेति भावः। अन्यत्र=अन्यस्मिन् स्थाने, रन्ध्रेषु=छिद्रेषु, आलक्ष्यनभःप्रदेशा=ईषद्दृश्यव्योमप्रदेशा, शुभ्रा=शुक्ला, शरदभ्रलेखा इव=शरन्मेघपङ्क्तिः इव, क्वचिद्=कुत्रचित्, कृष्णोरगभूषणा=कालसर्पालङ्कारा, भस्माऽङ्गरागा=भसिताऽवयवरागा, ईश्वरस्य=महेश्वरस्य, तनुः इव=शरीरम् इव, यमुनातरंगैः=कालिन्दीवीचिभिः, भिन्नप्रवाहा=व्यामिश्रौघा, गंगा=जाह्नवी, विभाति=शोभते, पश्य=विलोकय ॥ ५४–५७ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! क्वचिन्मरकतैः सहगुम्फिता हारावलिरिव अन्यत्र नीलोत्पलैरुद्गुम्फितमध्यभागा पुण्डरीकपंक्तिरिव, कुत्रचित् कलहंससंसृष्टा राजहंसश्रेणीव, अन्यत्र कृष्णाऽगुरुरचितमकरिकापत्रा चन्दनकल्पिता भूरेखेव, कुत्रचित् छायास्थितैरन्धकारैश्चित्रीकृता चान्द्री प्रभेव, अन्यत्र, छिद्रेषु ईषल्लक्ष्यव्योमप्रदेशा शुक्ला शरन्मेघरेखेव कुत्रचित् कालसर्पाऽलंकारा भस्मलिप्ता शंकरतनुरिव यमुनातरंगैः मिश्रितप्रवाहा गंगा शोभते, पश्य ॥ ५४–५७ ॥

अनुवादः—हे अनिन्दित अवयवोंसे युक्त सीते ! कहीं कान्तिसे लेप करने वाली इन्द्रनील मणियोंसे जड़ी हुई मुक्तावलीके सदृश, दूसरी ओर नीलकमलों से मध्यभागमें गुम्फित श्वेत कमलोंकी मालाके समान, कहींपर नीलहंसोंसे युक्त राजहंसोंकी पंक्तिके तुल्य, दूसरी ओर कृष्ण अगुरुसे रचित मकरिकाके पत्रसे युक्त चन्दनसे बनाई गई पृथिवीकी रेखाके सदृश, कहींपर छायामें स्थित अन्धकारोंसे चितकबरी चन्द्रकान्तिके समान, दूसरी और छिद्रोंमें कुछ देखे जानेवाले आकाश-प्रदेशसे युक्त सफेद शरद् ऋतुकी मेघरेखा सदृश और कहीं-पर कृष्णसर्परूप अलंकारसे युक्त अंगोमें भस्मरागसे लिप्त शिवजीकी तनु (शरीर) की नाईं यमुनाकी तरंगोंसे मिश्रित प्रवाहवाली गंगाजी शोभित हो रही हैं, देखो ! ॥ ५४–५७ ॥

टिप्पणी—हे अनवद्याऽङ्गि=न अवद्यानि अनवद्यानि (नञ्०), अनवद्यानि अंगानि यस्याः सा अनवद्यांगी, तत्सम्बुद्धौ, (बहु०) यहाँपर स्त्रीत्वविवक्षामें "अंगगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे ङीष् प्रत्यय हुआ है। प्रभालेपिभिः=प्रभया लिम्पन्ति (सन्निहितम्) इति प्रभालेपिनः तैः (प्रभा=लिप्=णिनिः, उपपदसमासः) इन्द्रनीलैः=रत्नविशेषको "इन्द्रनील" कहते हैं. इसे हिन्दीमें "नीलम" "पन्ना" भी कहते हैं। अनुविद्धा=अनु + व्यध + क्त + टाप्। मुक्तामयी=प्रचुरा मुक्ताः सन्ति यस्यां सा, मुक्ता शब्दसे "तत्प्रकृतवचने मयट्" इस सूत्रसे मयट् प्रत्यय होकर टित् होनेसे स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है। अन्यत्र=अन्यस्मिन् इति, अन्य शब्दसे "सप्तम्यास्त्रल्" इस सूत्रसे त्रल् प्रत्यय हुआ है। यह अव्यय है। उत्खचिताऽन्तरा=उत्खचितम् अन्तरं यस्याः सा (बहु०)। सितपंकजानां=पंके जातानि पंकजानि, पंक–उपपदपूर्वक "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे डप्रत्यय हुआ है। सितानि च तानि पंकजानि सितपंकजानि, तेषाम् (क० धा०)। कादम्बसंसर्गवती=कादम्बानां संसर्गः (ष० त०) "कादम्बः कलहंसः स्यात्" इत्यमरः। कादम्बसंसर्गः अस्या अस्तीति, कादम्बसंसर्ग शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप् प्रत्यय होकर "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इससे 'म' के स्थानमें 'व' होकर स्त्रीत्वविवक्षामें 'उगितश्च' इस सूत्रसे ङीप् प्रत्यय हुआ है। प्रियमानसानां–मनसा निर्वृत्तं मानसं

"मानस्" शब्दसे "तेन निर्वृत्तम्" इस सूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है। कैलास पर्वतमें ब्रह्माजीके मनसे रचित एक सरोवर का नाम "मानस सरोवर" है जैसा कि रामायणमें लिखा गया है—

"कैलासशिखरे राम ! मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा प्रागिदं यस्मात्तदभून्मानसं सरः ॥"

प्रियं मानसं येषां ते प्रियमानसाः, तेषाम् (बहु०)। खगानां=खे गच्छन्तीति खगाः, तेषाम्, ख+गम्+डः (उपपदसमासः)। "खग" कहते हैं पक्षीको, यहाँपर "प्रियमानसानाम्" विशेषण देनेसे राजहंसोंका बोध होता है। राजहंसोंको मानससरोवर प्रिय है ऐसी जनश्रुति है। वर्षाऋतुमें राजहंस मानसरोवरमें जाते हैं ऐसी भी जनश्रुति है। "जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः" (साहित्यदर्पणः)। "राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः।" इत्यमरः। कालाऽगुरुदत्तपत्रा=कालं च तत् अगुरु (क० धा०)। दत्तानि पत्राणि यस्याः सा (बहु०)। कालागुरुणा दत्तपत्रा (तृ० त०)। छायाविलीनैः= छायासु विलीनानि, तैः (स० त०)। शबलीकृता=अशबला शबला यथा सम्पद्यते तथा कृता (शबला+च्वि+कृ+क्त+टाप्)। चान्द्रमसी=चन्द्रमस इयम्, चन्द्रमस्+अण् ङीप्। आलक्ष्यनभःप्रदेशाः=ईषत् लक्ष्य आलक्ष्यः (गतिसमासः) नभसः प्रदेशः (ष० त०)। आलक्ष्यो नभःप्रदेशो यस्यां सा (बहु०)। शरदभ्रलेखा=शरदि अभ्राणि (स० त०) तेषां लेखा (ष० त०)। कृष्णोरगभूषणा= कृष्णाश्च ते उरगाः (क० धा०); ते भूषणानि यस्यां सा (बहु०)। भस्माऽङ्गरागा—अङ्गानां रागः (ष० त०), भस्म एव अङ्गरागो यस्याः सा (बहु०)। ईश्वरस्य=ईष्टे असौ ईश्वरः, तस्य, यहाँपर "ईश ऐश्वर्ये" इस धातुमें "स्थेशभासपिसकसो वरच्" इस सूत्रसे वरच् प्रत्यय हुआ है। "ईश्वरः शर्व ईशानः" इत्यमरः। यमुनातरंगैः=यमुनायास्तरङ्गाः, तैः (ष० त०)। भिन्नप्रवाहा=भिन्नः प्रवाहो यस्याः सा (बहु०)। पश्य=दृश्+लोट्+सिप्, इसका कर्म वाक्याऽर्थ है।

यहाँपर चौवनवें श्लोकसे सत्तावनवें श्लोक तक कुल चार श्लोकोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे इनको "कलापक कहते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणमें हैं—

"छन्दोबद्धपदं पद्यं, तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ।"

अर्थात् एक श्लोकको "मुक्तक", सम्बद्ध दो श्लोकोंको "युग्मक", तीन श्लोकोंको "सन्दानितक" किसीके मतमें "विशेषक", चार श्लोकोंको "कलापक" और चार श्लोकोंसे अधिकको "कुलक" कहते हैं।

यहाँपर "यमुनातरंगैः भिन्नप्रवाहा गंगा" अर्थात् "यमुना-तरंगोंसे मिश्रित प्रवाहवाली गंगा" के बहुतसे उपमान होनेसे "मालोपमा" अलङ्कार है, साहित्यदर्पणमें उसका लक्षण है—

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।" इति।

चारों श्लोकोंमें उपजाति है छन्द॥ ५४–५७॥

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि [1]भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥५८॥

अन्वयः—अत्र समुपत्न्योः जलसन्निपाते अभिषेकात् पूतात्मनां तत्त्वाऽवबोधेन विना अपि तनुत्यजां भूयः शरीरबन्धो न अस्ति किल॥ ५८॥

व्याख्या—(हे सीते !) अत्र=अस्मिन् स्थाने, प्रयाग इत्यर्थः। समुद्रपत्न्योः=सागरभार्ययोः, गंगायमुनयोरित्यर्थः। जलसन्निपाते=संगमे, अभिषेकात्=स्नानात् हेतोः, पूताऽऽत्मनां=पवित्राऽन्तःकरणानां जनानां, तत्त्वाऽवबोधेन विना अपि=तत्त्वज्ञानेन विना अपि, तनुत्यजाम्=शरीरत्यागिनाम्, प्रारब्धकर्मसमाप्त्यनन्तरमिति शेषः। भूयः=पुनः, शरीरबन्धः=देहसम्बन्धः, न अस्ति=नो वर्तते, मोक्षलाभादिति भावः, किल=निश्चयेन। अन्यत्र ज्ञानादेव मोक्षः। अत्र तु स्नानादपि मुक्तिरिति भावः॥ ५८॥

भावार्थः—हे सीते ! प्रयागे गंगायमुनयोः संगमे स्नानात् पवित्राणां जनानां विनाऽपि तत्त्वज्ञानं प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं पुनः शरीरसम्बन्धो नास्ति (मुक्तिर्भवति)॥ ५८॥

अनुवादः—हे सीते ! यहाँ गंगा और यमुनाके संगम में स्नान करनेसे पवित्र अन्तःकरणवाले जनोंको ज्ञानके बिना भी प्रारब्ध शरीर छोड़नेके अनन्तर फिर शरीरसम्बन्ध नहीं होता है अर्थात् वे स्नानसे ही मोक्ष पाते हैं॥

---

१. "शरीरिणाम्" इति पाठान्तरम्।

टिप्पणी—अत्र = इदम् + त्रल् । समुद्रपत्न्योः = पत्युर्यज्ञे संयोगो यया पत्नी, 'पति' शब्दसे 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" इस सूत्रसे "न" आदेश और ङीप् प्रत्यय हुआ है। समुद्रस्य पत्न्यौ, तयोः (ष० त०)। पुराणों में समुद्रको पति और नदियोंको पत्नी कहा गया है, इस प्रकार यहाँपर "समुद्रपत्नी" कहनेसे गङ्गा और यमुना ली गई हैं। जलसन्निपाते-सन्निपतन्ति अस्मिन् सन्निपाता, सं + नि + पत् + घञ् (अधिकरणे)। जलस्य सन्निपातः, तस्मिन् (ष० त०) अभिषेकात्=अभि + सिच् + घञ् (हेतौ पञ्चमी)। पूताऽऽत्मनां= पूत आत्मा येषां ते पूतात्मानः, तेषाम् (बहु०)। तत्त्वाऽवबोधेन = अवबोधनम् अवबोधः, अव + बुध् + घञ् (भावे) तत्त्वस्य अवबोधः, तेन (ष० त०) 'विना' पदके योगमें "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यन्तरस्याम्" इस सूत्रसे तृतीया हुई है, एक पक्षमें पञ्चमी और द्वितीया भी होती है। तनुत्यजां = तनुं त्यजन्तीति तनुत्यजः, तेषाम्, तनु + त्यज् क्विप्। शरीरबन्धः = शरीरस्य बन्धः (ष० त०)। अस्ति = अस् + लट् + तिप्। अन्यत्र ज्ञानसे ही मुक्ति है, परन्तु प्रयागके गंगा और यमुनाके संगममें स्नानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और मरणसे भी मुक्ति होती है। उपजाति छन्द है ॥ ५८ ॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया [1]मौलिमणिं विहाय।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि ! कामाः फलितास्तवेति ॥५९॥

अन्वयः—(हे सीते !) निषादाऽधिपतेः तत् पुरम् इदम्। यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय जटासुबद्धासु सुमन्त्रः "हे कैकेयि ! तव कामाः फलिताः" इति अरुदत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) निषादाऽधिपतेः = निषादराजस्य, गुहस्येत्यर्थः। तत्, पुरं = नगरम्, इदं = निकटस्थम्, अस्तीति शेषः। यस्मिन् = पुरे, मया, मौलिमणिं = मुकुटरत्नं, विहाय = त्यक्त्वा, जटासु=सटासु, बद्धासु = रचितासु सतीषु, सुमन्त्रः = सचिवः, हे कैकेयि = हे केकयराजकुमारि, तव = भवत्याः, कामाः = मनोरथाः, फलिताः=सफला जाताः, इति=एवम् उक्त्वा, अरुदत् = अश्रूणि व्यमुचत् ॥ ५९ ॥

भावार्थः–हे सीते ! निषादराजस्य गुहस्य तन्नगरमिदम्। यस्मिन् मया

---

१. "मौलिमणीन्" इति पाठान्तरम्।

मुकुटरत्नं विहाय यदा जटा रचितास्तदा सुमन्त्रः "हे कैकेयि ! रामनिर्वासनात्मकस्तव मनोरथः सफलो जात" इति कथयित्वाऽरोदीत् ।। ५६ ।।

अनुवादः—हे सीते ! निषादराज गुहका यह वह नगर (शृंगबेरपुर) है, जहाँपर मुकुटरत्नको छोड़कर मेरे जटाके बाँधनेपर "हे कैकेयि ! तुम्हारे अभिलाष सफल हुए" ऐसा कहकर सुमन्त्र रोये थे ।। ३६ ।।

टिप्पणी—निषादाऽधिपतेः=निषीदति पापम् एषु इति निषादाः, नि—उपसर्गपूर्वक "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु" इस धातुसे "हलश्च" इस सूत्रसे अधिकरणमें घञ् प्रत्यय हुआ है। "निषाद" धीवरका ही भेद है। अधिकः पतिः अधिपतिः (गतिसमासः) । निषादानाम् अधिपतिः निषादाऽधिपतिः, तस्य (ष० त०) "पतिः समास एव" इससे घिसंज्ञा होनेसे ऐसा रूप हुआ है। निषादराज गुह थे जो कि भगवान् रामचन्द्रके मित्र थे। उनके नगरका नाम "शृंगबेरपुर" था। मौलिमणिं=मौलेः मणिः, तम् (ष० त०) । विहाय=वि+हा+क्त्वा (ल्यप्), जटासु="व्रतिनस्तु जटा सटा" इत्यमरः । वद्धासु=बन्ध+क्त+टाप् । जटासु वद्धासु="यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इससे भावे सप्तमी हुई है। सुमन्त्रः=सुमन्त्र सूत (सारथि) थे, महाराज दशरथके ये मन्त्री भी कहे गये हैं। "ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः" इस प्रमाणके अनुसार ब्राह्मणीमें क्षत्रिय से उत्पन्न व्यक्तिको "सूत" कहते हैं' यह प्रतिलोम जाति है। कैकेयि=केकयस्य अपत्यं स्त्री कैकेयी, तत्सम्बुद्धौ, यहाँपर "केकय" शब्द से "जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्" इससे अञ् प्रत्यय होकर "केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः" इस सूत्रसे 'य' के स्थान में "इय" हुआ है, केक+इय्+अ गुण और वृद्धि होकर कैकेय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "टिड्ढाणञ्०" इत्यादि सूत्रसे ङीप् होकर "कैकेयी" पद वनता है। सिन्धुदेशके निकटवर्ती देशको "केकय" कहते हैं। केकय देशकी राजकुमारी होनेसे भरतकी माताको "कैकेयी" कहते हैं। फलिताः=फल+इतच् । अरुदत्= "रुदिर् अश्रुविमोचने" धातुसे लुङ् हुआ है। "इर्" की इत्संज्ञा होनेसे "इरितो वा" इससे वैकल्पिक अङ् हुआ है, अङ्के अभावमें "अरोदीत्" ऐसा भी रूप वनता है। उपजाति छन्द है ।। ५६ ।।

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।। ६० ।।

अन्वयः-(हे सीते !) पुण्यजनाऽङ्गनानां पयोधरैः निर्विष्टहेमाऽम्बुजरेणु ब्राह्मं सरो यस्याः बुद्धेः अव्यक्तम् इव कारणम् आप्तवाचः उदाहरन्ति ॥६०॥

व्याख्या—(हे सीते !) पुण्यजनाऽङ्गनानां=यक्षसुन्दरीणां, पयोधरैः=स्तनैः, निर्विष्टहेमाऽम्बुजरेणु=उपभुक्तस्वर्णकमलपरागं, ब्राह्मं=ब्रह्मसम्बन्धि, सरः=कासारं, मानससरोवरमित्यर्थः। यस्याः=सरय्वाः, बुद्धेः=महत्तत्त्वस्य, अव्यक्तम् इव=प्रकृतिम् इव, कारणं=हेतुम्, आप्तवाचः=वेदाः, मुनयो वा, उदाहरन्ति=कथयन्ति ॥ ६० ॥

भावार्थः—हे सीते ! यत्र यक्षसुन्दर्यः क्रीडयन्ति, यत्र च सुवर्णकमलान्युद्भवन्ति तादृशं मानससरोवरं यस्याः सरय्वाः बुद्धेः प्रकृतिमिव कारणमिति वेदा मुनयो वा प्रतिपादयन्ति ॥ ६० ॥

अनुवादः—हे सीते ! यक्ष सुन्दरियाँ जिसके सुवर्णकमलोंके परागको पयोधरोंमें लेपन करती हैं ऐसे मानस सरोवरको जिस सरयू नदीका, जैसे बुद्धिका कारण अव्यक्त (प्रकृति) है वैसे ही कारण कह कर वेद वा मुनिलोग प्रतिपादन करते हैं ॥ ६० ॥

टिप्पणी—पुण्यजनाऽङ्गनानां=पुण्याश्च ते जनाः पुण्यजनाः (क० धा०), "पुण्यजन" पदसे यहाँपर अलकाके निवासी कुबेरके प्रजाजन "यक्ष" लिए गये हैं, राक्षस नहीं। "भवेत्पुण्यजनो यक्षे राक्षसे सज्जनेऽपि च" इति विश्वः। पुण्यजनानाम् अंगनाः तासाम् (ष० त०)। पयोधरैः=धरन्ति ते धरा, धृञ् +अच् (पचाद्यच्) पयसां धराः, तैः (ष० त०)। निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु=हेम्नः अम्बुजानि हेमाम्बुजानि (ष० त०), हेमाम्बुजानां रेणुः (ष० त०), निर्विष्टो हेमाऽम्बुजरेणुः यस्य, तत् (बहु०)। "निर्वेश उपभोगः स्यात्" इत्यमरः। ब्राह्मं=ब्राह्मण इदं, तत्, यहाँपर "ब्रह्मन्" शब्दसे "तस्येदम्" सूत्रसे अण् प्रत्यय होकर "नस्तद्धिते" इस सूत्रसे टि (अन्) का लोप होकर यह पद निष्पन्न होता है। ५५ वें श्लोकमें मानससरोवरका वर्णन किया गया है। अव्यक्तं=न व्यक्तम् (नञ्०)। आप्तवाचः=आप्तस्य वाचः (ष० त०), "आप्त" कहते हैं यथार्थ वक्ताको। यहाँपर "आप्त" पदसे परमात्मा विवक्षित हैं। आप्त अर्थात् परमात्माकी रचित वाणी होनेसे न्यायदर्शनके अनुसार "आप्तवाचः" का अर्थ हुआ है वेद। मीमांसक वेदको अपौरुषेय (पुरुषसे अनिर्मित)

मानते हैं, अतएव उनके मतके अनुसार आप्ता (विश्वस्ता) वाक् (वाणी) येषां ते (बहु०) विश्वस्त वाणीवाले मुनिलोग उद्दिष्ट हैं। उदाहरन्ति= उद् + आङ् + हृञ् + झिः। सांख्य शास्त्रके अनुसार जैसे बुद्धिका कारण प्रकृति है उसी प्रकार सरयूका कारण मानससरोवर हैं; ऐसा कहनेसे यहाँ उपमा अलंकार है। उपजाति छन्द है ॥ ६० ॥

जलानि या तीरनिखातयूपा[1] वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥६१॥

अन्वयः—तीरनिखातयूपा या तुरङ्गमेधाऽवभृथाऽवतीर्णैः इक्ष्वाकुभिः, पूर्वैः पुण्यतरीकृतानि जलानि अयोध्यां राजधानीम् अनुवहति ॥ ६१ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) तीरनिखातयूपा=तटाऽवदारितयूपा, या= सरयूः, तुरङ्गमेधाऽवभृथावऽतीर्णैः=अश्वमेधदीक्षान्तस्नानाऽरूढैः, इक्ष्वाकुभिः= इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नैः, नः=अस्माकं, पूर्वैः=पूर्वजैः, पुण्यतरीकृतानि=पवित्रत- रीकृतानि, जलानि=अम्बूनि, अयोध्यां=तदाख्यां, राजधानीम्, अनु= समीपे, वहति=प्रापयति ॥ ६१ ॥

अनुवादः—हे सीते ! किनारेमें गाड़े गये यूपोंसे युक्त जो सरजू नदी, अश्वमेध यज्ञके अवभृथस्नानके लिए उतरे हुऐ इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हमलोगोंके पूर्वजोंसे अत्यन्त पवित्र किये गये जलको अयोध्या राजधानीके समीप पहुँचाती है ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—तीरनिखातयूपा=नि+खन+क्तः निखातः। निखाता यूपा यस्यां सा (बहु०) तीरे निखातयूपा (स० त०)। यज्ञमें जिस काष्ठमें पशुको बांधते हैं, उसे "यूप" कहते हैं। तुरङ्गमेधाऽवभृथाऽवतीर्णैः=तुरङ्गः मेध्यते (हिंस्यते) अस्मिन् स तुरङ्गमेधः, तुरङ्ग-उपपदपूर्वक "मेधृ संगमे च" धातुसे अधिकरणमें घञ् प्रत्यय हुआ है। तुरङ्गमेधस्य अवभृथः (ष० त०)। अव+तॄ+क्तः=अवतीर्णः। तुरङ्गमेधाय अवतीर्णाः तैः (च० त०)। "अश्वमेध" यज्ञ करनेका अधिकारी सार्वभौम क्षत्रिय राजा ही माना गया है। उत्तम लक्षणवाले अश्वको प्रोक्षण कर योद्धाओंके संरक्षणमें छोड़ देते थे। जिन जिन राज्योंमें वह जाता था उनके स्वामी या तो अश्वमेधके

१. "यूपैः" इति पाठान्तरम्।

अनुष्ठाता सार्वभौमकी अधीनता स्वीकार करते थे, नहीं तो उस अश्वको बन्धनमें डाल देते थे, अश्वके संरक्षक उनको परास्त करते थे तो यज्ञकी पूर्णता होती थी। १ सालके बाद उस अश्वका आलम्भन कर उसकी वसाका हवन आदि कृत्य किया जाता था। ब्रह्महत्याके पापका क्षय, स्वर्ग और मोक्ष इसका फल माना गया है। इक्ष्वाकुभिः=इक्ष्वाकूनाम् अपत्यानि पुमांसः इक्ष्वाकवः, तैः, यहाँपर जनपद और क्षत्रिय अर्थके वाचक 'इक्ष्वाकु' शब्दसे "जनपद-शब्दात्क्षत्रियादञ्" इस सूत्रसे जो अञ् प्रत्यय हुआ था उसका बहुवचनमें "तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्" इस सूत्रसे लुक् होनेसे क्षादिवृद्धि नहीं हुई। पुण्यतरीकृतानि=अतिशयेन पुण्यानि पुण्यतराणि, यहाँ पर 'पुण्य, शब्द-से "द्विवचन,विभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इस सूत्रसे तरप् प्रत्यय हुआ है। अपुण्यतराणि पुण्यतराणि यथा संपद्यन्ते तथा कृतानि, पुण्यतर+च्वि (अभूत-तद्भावे)+कृत+क्तः। अयोध्याम् राजधानीम् अनु=यहाँ पर "अनु" शब्द-की 'लक्षणेत्थंभूताऽऽख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" इस सूत्रसे कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होनेसे उसके योगमें अयोध्या शब्दसे "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इससे द्वितीया विभक्ति हुई है। वहति="वह् प्रापणे" धातुसे लट् हुआ है। उप-जाति छन्द है ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) यां मे मानसं सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् उत्तरकोसलानां सामान्यधात्रीम् इव संभावयति ।६२।

व्याख्या—(हे सीते !) यां=सरयूं, मे=मम, मानसं=चित्तं कर्तृभू-तम्। सैकतोत्संगसुखोचितानां—पुलिनाऽङ्कसुखाऽभ्यस्तानां, प्राज्यैः=प्रभूतैः, पयोभिः=जलैः (सरयूपक्षे), पयोभिः=दुग्धैः (मातृपक्षे), परिवर्धितानां=पुष्टानाम्, उत्तरकोसलानाम्=उत्तरकोसलेश्वराणां, सामान्यधात्रीम्, इव=साधारणमातरम् इव, संभावयति=सत्करोति ॥ ६२ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! यां सरयूं मदीयं चित्तं तटरूपोत्संगस्थितानां प्रचुर-पयोभिः पुष्टानामयोध्याऽधीश्वराणां साधारणमातरम् इव विमृशति ॥ ६२ ॥

अनुवादः—हे सीते ! जिस सरयूको मेरा चित्त तटरूप गोदमें (माताके पक्षमें तटके सदृश गोदमें) सुखसे रहनेमें अभ्यस्त पर्याप्त पय (सरयू—पक्षमें

जल और माताके पक्षमें दूध) से परिपुष्ट किये गये उत्तरकोसलके राजाओंकी सामान्य माताके समान सत्कार करता है ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—मानसं=मन एव मानसम्, यहाँ पर मनस् शब्दसे स्वार्थ (प्रकृतिके अर्थ) में अण् प्रत्यय हुआ है।

सैकतोत्संगसुखोचितानां=सैकतम् एव उत्संगः (रूपक स०), तस्मिन् सुखं (स० त०), तस्मिन् उचिताः, तेषाम् (स० त०)। प्राज्यैः="प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु" इत्यमरः। पयोभिः="पयः क्षीरं पयोऽम्बु चे"त्यमरः। परिवर्धितानां=परि+वृध्+णिच्+क्तः।

उत्तरकोसलानाम्=भारतीय भुवनकोष (भूगोल) के अनुसार कोसल राज्यके दो भेद हैं उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या है, दक्षिण कोसल अर्थात् विदर्भ (आधुनिक नाम वरार) की राजधानी का नाम कुण्डिनपुर है। सामान्यधात्रीम्-दधातीति धात्री, धा+तृच्+ङीप्।

"धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु !" इति विश्वः। सामान्या चाऽसौ धात्री, ताम् (क० धा०)। संभावयति=सं+भू+णिच्+लट्+तिप्। इस श्लोकमें सैकतमें उत्सगका आरोप होनेसे रूपक, 'पयः' पदका जल और दूध अर्थ होनेसे श्लेष, "सामान्यधात्रीम् इव" इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ६२ ॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता[1]।
दूरे[2] वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

अन्वयः—(हे सीते !) मदीया जननी इव मान्येन तेन राज्ञा वियुक्ता सा इयं सरयूः दूरे वसन्तं मां शिशिराऽनिलैः तरंगहस्तैः उपगूहति इव ॥६३॥

व्याख्या—(हे सीते !) मदीया=मामकीना, जननी इव=माता इव, कौसल्या इवेत्यर्थः। मान्येन=पूज्येन, तेन=दिवंगतेन, राज्ञा=महाराजेन, दशरथेनेत्यर्थः। वियुक्ता=विप्रयुक्ता, सा=पूर्वदृष्टा, इयं=सन्निकृष्टस्था, सरयूः=नदी, दूरे=विप्रकृष्टप्रदेशे, वसन्तं=निवसन्तं, प्रोष्यागच्छन्तमिति भावः। मां=

---

१. "मुक्ते" ति पाठान्तरम्।
२. "दूरेपि" इति पाठान्तरम्।

रामं, शिशिरानिलैः=शीतवातैः, तरङ्गहस्तैः=ऊर्मिरूपकरैः, उपगूहति इव= आलिङ्गति इव ॥ ६३ ॥

भावाऽर्थः—हे सीते ! मामकीना मातेव पूज्येन पित्रा विरहिता सेयं सरयूः प्रोष्यागच्छन्तं मां शीतवातैरूर्मिकरैरालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

अनुवादः–हे सीते ! मेरी माता कौसल्याके समान, पूज्य राजा (दशरथ-जी) से विरहिता वह सरयू नदी, प्रवासमें, रहकर लौटे हुए मुझको शीतल वायुवाले तरंगरूप हाथों से जैसे आलिंगन कर रही है ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—मदीया=मम इयम्, यहाँपर "अस्मद्', शब्दसे "त्यदादीनि च" इस सूत्रसे वृद्धसंज्ञा होनेसे "वृद्धाच्छः" इस सूत्रसे छ प्रत्यय होकर "आयने-यीनीयियः० "इत्यादि सूत्रसे 'छ'के स्थानमें "ईय" होकर "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इससे प्रत्ययके परे रहते 'अस्मद्' के स्थानमें "मत्" आदेश होकर स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप् प्रत्यय हुआ है। जननी=जनयतीति जन्+ल्युट्+ङीप्। मान्येन=मान+ण्यत्। वियुक्ता=वि+युज्+क्त+टाप्। वसन्तं=वस+ लट् (शतृ)। शिशिराऽनिलैः=शिशिरः अनिलः येषां ते शिशिरानिलाः तैः (बहु०)। तरंगहस्तैः=तरंगा एव हस्ताः, (रूपक०)। उपगूहति=उप+ गुह+लट्+तिप्। इस श्लोकमें उपमा और उत्प्रेक्षाकी निरपेक्षतया स्थिति होनेसे संसृष्टि अलंकार है, उपजाति छन्द है ॥ ६२ ॥

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो[1] रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥६४॥

अन्वयः—(हे सीते !) विरक्तसन्ध्याकपिशं पार्थिवं रजः पुरस्तात् यतः उज्जिहीते, (तस्मात्) हनूमत्कथितवृत्तिः भरतः ससैन्यः (सन्) मां प्रत्युद्-गतः (इति) शंके ॥ ६४ ॥

व्याख्या–(हे सीते !) विरक्तसन्ध्याकपिशम्=अतिरक्तसन्ध्याताम्रवर्णं, पार्थिवं=पृथिव्याः, रजः=धूलिः, पुरस्तात्=अग्रे, यतः=यस्मात्कारणात्, उज्जिहीते=उद्गच्छति, (तस्मात्) हनूमत्कथितप्रवृत्तिः=हनूमदुक्तमदागमन-वृत्तान्तः, भरतः=कैकेयीनन्दनः, ससैन्यः=ससैनिकः सन्, माम्=अग्रजं प्रत्युद्गतः=प्रत्युद्व्रजितः (इति) शंके=तर्कयामि ॥ ६४ ॥

---

१. "यस्मात्" "एतत्" "यथे"ति च पाठान्तराणि ।

भावार्थः—हे सीते ! रक्तवर्णा पृथिव्या धूलिर्यस्मात्कारणादुद्गच्छति ततो हनूमतो मदागमनवार्ता ज्ञात्वा भरतः सैन्यैः सह मां प्रत्युद्गत इति तर्कयामि ॥

अनुवादः—हे सीते ! जिस कारण आगे लालवर्णवाली सन्ध्याके सदृश रक्तवर्णवाली पृथ्वीकी धूलि उठ रही है अतः हनूमानके कहनेसे मेरे आनेका वृत्तान्त जानकर भरतजी सेनाके साथ मेरी आगवानी करनेके लिए आ रहे हैं मैं ऐसी तर्कणा करता हूँ ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—विरक्तसन्ध्याकपिशं=विरक्ता चाऽसौ सन्ध्या (क० धा०), सा इव कपिशम्, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति कर्मधारयः । पार्थिवं= पृथिव्या इदम्, पृथिवी+अण् । यतः=यस्मादिति, यद्+तसिल् । उज्जिहीते =उद्—उपसर्गपूर्वक "ओहाङ् गतौ" धातुके लट् का रूप है । "ई हल्यघोः" इस सूत्रसे ईत्व हुआ है ।

हनूमत्कथितप्रवृत्तिः=कुत्सितो हनुरस्याऽस्तीति हनूमान्, हनु मतुप । "शरादीनां च" इस सूत्रसे "हनु" के उकारका दीर्घ हुआ है । उत्पन्न होनेके अनन्तर ही उदित होते हुए लाल सूर्यको फल समझकर जब वायुपुत्र खानेके लिए तत्पर हुए थे, तब इन्द्रने उनके ऊपर वज्रप्रहार किया तब उनका हनु टेढ़ा हुआ ऐसी प्रसिद्धि है । तभीसे उनका नाम "हनूमान्" हो गया । हनूमता कथिता (तृ० त०) । हनूमत्कथिता प्रवृत्तिः यस्मै सः (बहु०) । "वार्ता प्रवृत्ति वृंत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः । ससैन्यः=सैन्यैः सहितः (तुल्ययोग-बहु०) । प्रत्युद्गतः=प्रति+उद्+गम्+क्तः । शङ्के="शकि शङ्कायाम्" धातुके लट् का रूप है । "शंका भयवितर्कयोः ।" इति शब्दाऽर्णवः । इसमें उपमा अलंकार है । उपजाति छन्द है ॥ ६४ ॥

[1]अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन् संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥६५॥

अन्वयः—(सीते !) साधुः स पालितसङ्गराय मे अनघां संरक्षितां श्रियं मृधे खराऽऽदीन् हत्वा निवृत्ताय मै लक्ष्मणः संरक्षिताम् अनघां त्वाम् इव प्रत्यर्पयिष्यति अद्धा ॥ ६५ ॥

१. "द्धे"ति पाठान्तरम् ।

व्याख्या-(हे सीते !) साधुः=सज्जनः, सः=भरतः, पालितसङ्गराय=रक्षितपितृप्रतिज्ञाय, मे=मह्यम्, अनघाम्,=अदोषां, भोगाऽभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां=पालितां, श्रियं=राजलक्ष्मीं, मृधे=युद्धे, खरादीन्=खर-प्रभृतीन् राक्षसान्, हत्वा = व्यापाद्य, निवृत्ताय=परावृत्ताय, मे = मह्यं, लक्ष्मणः = सौमित्रिः, संरक्षितां = पालिताम्, अनघां=निर्दोषां, त्वाम् इव=भवतीम् इव, प्रत्यर्पयिष्यति,=समर्पयिष्यति, अद्धा=सत्यम् ।

भावाऽर्थः—हे सीते ! भरतः पालितपितृप्रतिज्ञाय मे राजलक्ष्मीं, युद्धे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणस्त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यति सत्यम् ।। ६५ ।।

अनुवादः—हे सीते ! जैसे, युद्धमें खर आदिको मारकर लोटे हुए मुझको लक्ष्मणजीने संरक्षित निर्दोष तुम्हें सौंप दिया था वैसे ही सज्जन भरतजी पिताजीकी प्रतिज्ञाका पालन करनेवाले मुझको निर्दोष और संरक्षित राज-लक्ष्मीको निश्चय सौंप देंगे ।। ६५ ।।

टिप्पणी—साधुः—साध्=उण्, "साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाऽपि वाच्यवत् ।" इति विश्वः । पालितसङ्गराय—पालितः संगरो येन तस्मै (बहु०) । अनघाम्=अविद्यमानम् अघं यस्याः सा, ताम् (नञ्—बहु०) । संरक्षिता—सम्यक् रक्षिता, ताम् (गति०) । खरादीन्=खर आदिर्येषां ते खराऽऽदयः, तान् (बहु०) । हत्वा=हन् + क्त्वा । निवृत्ताय=नि + वृत् + क्तः । प्रत्यर्पयिष्यति—प्रति + ऋ + णिच् + लृट् + तिप् । अद्धा="तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम् ।" इत्यमरः । इस श्लोकमें उपमालंकार है । इन्द्रवज्रा छन्द है ।। ६५ ।।

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा [1]मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ।।६६ ।।

अन्वयः—(हे सीते !) असौ पदातिः चीरवासाः भरतः पश्चादवस्थापित-वाहिनीकः (सन्) गुरुं पुरस्कृत्य वृद्धैः अमात्यैः सह अर्घ्यपाणिः (सन्) माम् अभ्युपैति ।। ६६ ।।

व्याख्या-(हे सीते !) असौ—विप्रकृष्टस्थः, पदातिः—पादचारी, चीरवासाः—वल्कलवसनः, भरतः=कैकेयीनन्दनः, पश्चादवस्थापितवाहिनीकः=पृष्ठभाग-

---

१. "मर्घपाणि"रिति पाठान्तरम् ।

स्थापितसेनः (सन्), गुरुं = वशिष्ठं, पुरस्कृत्य = अग्रतो विधाय, वृद्धैः = प्रवयोभिः, अमात्यैः = मन्त्रिभिः, सह = समम्, अर्घ्यपाणिः = करस्थोदकादिः (सन्), माम्, अभ्युपैति = सम्मुखमागच्छति ॥ ६६ ॥

भावार्थः—हे सीते ! असौ पादचारी वल्कलवसनो भरतः सेनां पश्चादवस्थाप्य गुरुं पुरो विधाय वृद्धमन्त्रिभिः समं पूजाद्रव्यं हस्ते निधाय मत्समीपमागच्छति ॥ ६६ ॥

अनुवादः—हे सीते पैदल, वल्कल पहने हुए ये भरतजी सेनाको पीछे रखकर गुरु वशिष्ठ ऋषिको आगे कर वृद्ध मन्त्रियोंके साथ हाथमें अर्घ्य लेकर मेरे पास आ रहे हैं ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—पदातिः = पादाभ्याम् अततीति, यहाँपर पाद—उपपदपूर्वक "अत सातत्यगमने" धातुसे "अज्यतिभ्यां पादे च" इस सूत्रसे इण् प्रत्यय होकर "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" इस सूत्रसे "पाद"के स्थानमें "पद्" आदेश हुआ है । चीरवासाः = चीरे वाससी यस्य सः (बहु०), "अत्वसन्तस्य चाऽधातोः" इससे 'सु' में दीर्घ हुआ है । पश्चादवस्थापितवाहिनीकः = पश्चात् अवस्थापिता (सुप्सुपा०), पश्चादवस्थापिता वाहिनी येन सः (बहु०) "नद्यृतश्च" इस सूत्रसे समासान्त कप् प्रत्यय हुआ है ।

"ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः" इत्यमरः । पुरस्कृत्य = "पुरोऽव्ययम्" इस सूत्रसे "पुरः" अव्यय गतिसंज्ञक होकर "कुगतिप्रादयः" इस सूत्रसे गतिसमास होकर "नमस्पुरसोर्गत्योः" इस सूत्रसे "पुरः"के विसर्गके स्थानमें "स" आदेश होकर "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इससे 'क्त्वा' के स्थानमें ल्यप् आदेश हुआ है । अमात्यः = अमा (सह) भवाः अमात्याः, तैः, यहाँ पर "अव्ययात्त्यप्" इस सूत्रसे "अमेहक्वतसित्रेभ्य एव" इस वार्तिकके अनुसार "त्यप्" प्रत्यय हुआ है । "सह" के योगमें "सहयुक्तेऽप्रधाने" इस सूत्रसे तृतीया हुई है । अर्घ्यपाणिः = अर्घार्ऽर्थमुदकम् अर्घ्यम्, यहाँपर 'अर्घ' शब्दसे "पादार्घाभ्यां च" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय हुआ है ।

अर्घ्यं पाणौ यस्य सः, यहाँपर "सप्तमी विशेषेण बहुव्रीहौ" इस सूत्रमें "सप्तमी" पदसे ज्ञापित व्यधिकरण बहुव्रीहि समास हुआ है । यह भरतका

विधेय विशेषण है। अभ्युपैति=अभि+उपपूर्वक "इण् गतौ" धातुसे लट् हुआ है। "एत्येधत्यूठ्सु" इस सूत्रसे वृद्धि हुई है। उपजाति छन्द है ॥ ६६ ॥

पित्रा[1] विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्क[2] गतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥६७॥

अन्वयः—(हे सीते !) यः पित्रा विसृष्टाम् अङ्कगताम् अपि श्रियं युवा अपि मदपेक्षया अभोक्ता (सन्) इयन्ति वर्षाणि तया सह उग्रम् आसिधारं व्रतम् अभ्यस्यति इव ॥ ६७ ॥

व्याख्या—(हे सीते !) यः=भरतः, पित्रा=जनकेन, विसृष्टां=दत्ताम्, अङ्कगताम् अपि=उत्सङ्गप्राप्ताम् अपि, श्रियं=राजलक्ष्मीं, (पक्षान्तरे स्त्रियम्) युवा अपि=तरुणः अपि, मदपेक्षया=मद्भक्त्या, अभोक्ता=अनुपयोक्ता (सन्) इयन्ति=एतावन्ति, वर्षाणि=हायनानि, चतुर्दश वत्सरान् यावदिति भावः। तया सह=श्रिया सह, स्त्रिया सहेति व्यज्यते। उग्रं=भयङ्करं दुश्चरमित्यर्थः। आसिधारम्=आसिधारं नाम व्रतम्, अभ्यस्यति इव=आचरति इव ॥ ६७ ॥

भावार्थः—हे सीते ! यो भरतः पित्रा प्रतिपादितामुत्संगस्थितामपि राजलक्ष्मीं तरुणः सन्नपि अभोक्ता सन् चतुर्दशवर्षपर्यन्तं तया सह दुश्चरमासिधारं व्रतमाचरतीव प्रतीयते ॥ ६७ ॥

अनुवादः—हे सीते ! जिस भरतने पिताजीसे दी गई और उत्संगमें प्राप्त हुई राजलक्ष्मी रूपी स्त्री का तरुण होते हुए भी मानों मेरी भक्तिसे भोग किए विना इतने (चौदह) वर्षोंतक उस राजलक्ष्मी रूपी स्त्री के साथ ही रहकर दुष्कर असिधारा व्रत (तलवारकी धारपर चलनेके सदृश) का आचरण किया है ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—विसृष्टां=वि+सृज्+क्त+टाप्। अङ्कगताम्=अङ्कं गता इति अङ्कगता ताम्, यहाँपर 'द्वतीया श्रिताऽतीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः' इस सूत्रसे द्वितीयातत्पुरुष समास हुआ है। "उत्संगचिह्नयोरङ्कः" इत्यमरः। श्रियम्=यहाँपर "अभोक्ता" इस कृदन्त पदके परे रहते हुए भी उसका तृन्नन्त होनेसे 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस सूत्रसे षष्ठीका निषेध हुआ

---

१. "निसृष्टाम्" पाठान्तरम्। २. "ङ्ग" इति पाठान्तरम्।

है, अर्थात् "कर्तृकर्मणोः कृति" इससे षष्ठी नहीं हुई। मदपेक्षया=मम अपेक्षा, तया (ष० त०)। अभोक्ता=भुनक्तीति भोक्ता, भुज्+तृन्। न भोक्ता (नञ्०)। इयन्ति=इदं परिमाणमस्ति येषां तानि, यहाँपर "इदम्" शब्दसे "किमिदम्भ्यां वो घः" इस सूत्रसे वतुप् होकर 'व' के स्थान में "घ" (इय) आदेश हुआ है। वर्षाणि=यहाँपर "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इस सूत्रसे कालके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया विभक्ति हुई है। आसिधारम्—असेर्धारा (ष० त०), असिधाराया इदम्, असिधारा+अण्। आसिधार व्रतके विषयमें यासव ने लिखा है—

'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्।
अन्तर्निवृत्तसंगः स्यादासिधारव्रतं हि तत्॥'

अर्थात् कोई युवा युवतीके साथ अन्तःकरणकी आसक्तिसे रहित होते हुए जो मुग्ध (मूढ) पतिके समान आचरण करे उसे "आसिधार व्रत" कहते हैं।

युवा की गोदमें बैठी युवतीके साथ आसक्तिरहित होना तलवारकी धार पर चलनेके समान होनेसे "आसिधार वत" कहा गया है। अभ्यस्यति इव= यहाँपर क्रियोत्पेक्षा अलंकार है। उपजाति छन्द है॥ ६७॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः॥

अन्वयः—दाशरथौ एतावत् उक्तवति (सति) विमानं तदीयाम् इच्छाम् अधिदेवतया विदित्वा सविस्मयाभिः भरताऽनुगाभिः प्रकृतिभिः उद्वीक्षितं (सत्) ज्योतिष्पथात् अवततार॥ ६८॥

व्याख्या—दाशरथौ=दशरथपुत्रे, राम इति भावः। एतावत्=इयत् (वाक्यम्), उक्तवति=कथितवति सति, विमानं=व्योमयानं पुष्पकमित्यर्थः। तदीयां=रामसम्बन्धिनीम्, इच्छां=काङ्क्षाम्, अधिदेवतया=विमानवाहिकया देवतया, विदित्वा=ज्ञात्वा, तत्प्रेरितं सदिति भावः। सविस्मयाभिः= आश्चर्ययुक्ताभिः, भरताऽनुगाभिः=भरताऽनुगामिनीभिः, प्रकृतिभिः=प्रजाभिः उद्वीक्षितम् ऊर्ध्वं दृष्टं सत्, ज्योतिष्पथात्=आकाशात्, अवततार=अवतीर्ण, भूमण्डल इति भावः॥ ६८॥

भावार्थः—रामवाक्याऽवसानाऽनन्तरं विमानवाहिकयाऽधिदेवतया रामेच्छां ज्ञात्वा भरताऽनुगामिनीभिः प्रजाभिरूर्ध्वं दृष्टं विमानमाकाशाद्भूमावववतारितम् ॥ ६८ ॥

अनुवादः—रामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उनकी इच्छाको जानकर स्वचालिका अधिदेवतासे भरतका अनुसरण करनेवाली आश्चर्ययुक्त प्रजाओंसे ऊपर देखा हुआ विमान आकाशसे भूमिपर उतारा गया ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—दाशरथौ=दशसु (दिक्षु) रथो यस्य स दशरथः (व्यधि० बहु०), रामजीके पिताका नाम दशरथ है, यह अन्वर्थ (अर्थाऽनुसारी) है। दशरथस्याऽपत्यं पुमान् दाशरथिः तस्मिन्, "दशरथ" शब्दसे "अत इञ्" इस सूत्रसे इञ् प्रत्यय हुआ है। एतावत्=एतत् परिमाणम् अस्य, तत् (एतद्+वतुप्), "आ सर्वनाम्नः', इससे आकार अन्तादेश हुआ है। उक्तवति=ब्रूञ् (वच्)+क्तवतुः (भावे सप्तमी)। तदीयां=तस्य इयं, ताम् तद्+छ (ईय) टाप्। अधिदेवतया=दीव्यतीति देवः, दिव+अच्, देव एव देवता, 'देव' शब्द से स्वार्थ (प्रकृतिके अर्थ) में "देवात्तल्" इस सूत्रसे तल् प्रत्यय हुआ है, देव+तल्+टाप=देवता। अधिका देवता अधिदेवता (गति०)। विदित्वा=विद (ज्ञाने)=क्त्वा। सविस्मयाभिः=विस्मयेन सहिताः सविस्मयाः, ताभिः (तुल्ययोगबहु०)। भारताऽनुगाभिः=अनु, (पश्चाद्) गच्छन्तीति अनु+गम्+ड+टाप्=अनुगाः, भरताभिः अनुगास्ताभिः (ष० त०)। प्रकृतिभिः=प्र+कृ+क्तिन्। उद्वीक्षितम्=उद्+वि+ईक्ष+क्तः (कर्मणि)। ज्योतिष्पथात्=ज्योतिषां (ग्रहनक्षत्राणाम्) पन्थाः ज्योतिष्पथः तस्मात् (ष० त०), "यहां पर "ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे" इस सूत्रसे समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ है। अवततार=अव+तृ+लिट्+तिप् (णल्)। यहांपर विमान स्वयम् अचेतन है, अतः उसको चलानेवाली अधिदेवताने उसको जमीनपर उतारा ऐसा समझना चाहिए। छन्द वसन्ततिलका है, इसका लक्षण है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥

अन्वयः—रामः सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः (सन्) पुरःसरविभीषणदर्शितेन अदूरमहीतलेन भङ्गिरचितस्फटिकेन मार्गेण तस्मात् यानात् अवातरत् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—रामः = रामचन्द्रः, सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः = परिचरणनिपुणसुग्रीवदत्तहस्ताऽऽलम्बः सन्, पुरःसरविभीषणदर्शितेन = अग्रसरविभीषणप्रदर्शितेन, अदूरमहीतलेन = आसन्नभूतलेन, भङ्गिरचितस्फटिकेन = विच्छित्तिनिर्मितस्फटिकेन, मार्गेण = पथा, तस्मात् = पूर्वोक्तात्, यानात् = पुष्पकविमानात्, अवातरत् = अवतीर्णः ॥ ६९ ॥

भावार्थः—रामः सुग्रीवहस्तमवलम्ब्य विभीषणदर्शितेन समीपभूतलेन स्फटिकमयेन पथा पुष्पकविमानात् अवतीर्णः ॥ ६९ ॥

अनुवादः—रामचन्द्रजी सेवामें निपुण वानरराज सुग्रीवके हाथका सहारा लेकर आगे चलते हुए विभीषणसे प्रदर्शित निकटस्थित भूमिवाले बीच-बीचमें स्फटिक मणिकी रचनासे शोभित सोपानमार्गसे उस पुष्पक विमानसे भूमिपर उतरे ॥ ६९ ॥

टिप्पणीः—रामः = रम् + घञ् (अधिकरणे), सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः=सेवायां विचक्षणः (स० त०)। हरीणाम् ईश्वरः (ष० त०)। सेवाविचक्षणश्चाऽसौ हरीश्वरः (क० धा०)। दत्तो हस्तो यस्य सः (बहु०)। सेवाविचक्षणहरीश्वरेण दत्तहस्तः (तृ० त०)। पुरःसरविभीषणदर्शितेन–पुरः सरतीति पुरःसरः, यहाँपर पुरस् उपपदपूर्वक सृ "धातुसे "पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः" इस सूत्रसे टप्रत्यय हुआ है। पुरःसरश्चाऽसौ विभीषणः (क० धा०)। दृश् + णिच् + क्तः = दर्शितः। पुरःसरविभीषणेन दर्शितः (तृ० त०), तेन। अदूरमहीतलेन = न दूरम् (आसन्नम्) नञ्०। मह्याः तलम्, (ष० त०), "अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्" इत्यमरः। अदूरं महीतलं यस्य, तेन (बहु०)। भङ्गिरचितस्फटिके = रचिताः स्फटिका यस्मिन् (बहु०-)। भङ्गिभिः रचितस्फटिकः, तेन (तृ० त०)। यानात् = यान्ति अनेन इति यानः, तस्मात्, (अपादाने पञ्चमी)। "या प्रापणे" धातु से "करणाऽधिकरणयोश्च" इस सूत्रसे करणके अर्थमें ल्युट् प्रत्यय हुआ है। जिससे लोग गन्तव्य स्थानमें

पहुँचते हैं उसे 'यान' (सवारी) कहते हैं। अवातरत्=अव+तॄ+लङ्। वसन्ततिलका छन्द है॥ ६९॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स[1] भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥

अन्वयः—प्रयतः स इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रणम्य अर्घ्यपरिग्रहाऽन्ते पर्यश्रुः (सन्) भ्रातरं भरतम् अस्वजत, तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके मूर्धनि उपजघ्रौ च॥ ७०॥

व्याख्या—प्रयतः=पवित्रः, सः=रामः, इक्ष्वाकुवंशगुरवे=इक्ष्वाकुकुलाऽऽचार्याय, वशिष्ठायेत्यर्थः। प्रणम्य=नमस्कृत्य, अर्घ्यपरिग्रहाऽन्ते=अर्घ्यस्वीकाराऽवसाने, पर्यश्रुः=परिगताऽऽनन्दवाष्पः सन्, भ्रातरम्=अनुजं भरतं=कैकेयीतनूजम्, अस्वजत=आलिङ्गत। तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाऽभिषेके=रामभक्तिपरिहृतपितृराज्यमहाभिषेके, मूर्धनि=भरतशिरसि, उपजघ्रौ च=आघ्रातवांश्च॥ ७०॥

भावार्थः—रामः कुलाचार्यं वशिष्ठं प्रणम्य अर्घ्यं स्वीकृत्य परिगताऽऽनन्दवाष्पः सन् भरतमालिङ्गय स्वभक्तिपरित्यक्तपितृराज्याऽभिषेके भरतशिरसि आघ्रातवांश्च॥ ७०॥

अनुवादः—पवित्र रामचन्द्रजीने इक्ष्वाकुवंशके गुरु वशिष्ठजीको प्रणामकर अर्घ्य स्वीकार करनेके अनन्तर आनन्दजन्य अश्रुओंको गिराते हुए भाई भरतको आलिङ्गन किया और अपनी भक्तिसे पिता (दशरथ) के राज्यके महाभिषेकका त्याग करनेवाले भरतके सिरको सूंघा॥ ७०॥

टिप्पणी—प्रयतः=प्र+यम्+क्तः। इक्ष्वाकुवंशगुरवे=इक्ष्वाकोः वंशः (ष० त०), तस्य गुरुः, तस्मै (ष० त०)। यहाँपर "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" इस वार्तिकसे संप्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी हुई है। प्रणम्य प्र+नम्+क्त्वा (ल्यप्)। अर्घ्यपरिग्रहान्ते=अर्घ्यस्य परिग्रहः (ष० त०) तस्य अन्तः, तस्मिन् (ष० त०)। पर्यश्रुः=परिगतानि अश्रूणि यस्य सः (बहु०)। अस्वजत='स्वञ्ज परिष्वङ्गे' धातुके लङ्का एकवचनका रूप है।

---

१. 'सभ्रातरम्' इति समस्तरूपं पाठान्तरम्।

'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इस सूत्रसे शप्‌के परे रहते 'नकार' का लोप हुआ है।

तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके = तस्मिन् भक्तिः (स० त०) । अप + वह + क्तः = अपोढः । तद्भक्त्या अपोढः (तृ० त०) पितुः राज्यं (ष० त०) महाँश्चाऽसौ अभिषेकः (क० धा०) । पितृराज्ये महाभिषेकः (स० त०) तद्भक्त्यपोढः पितृराज्यमहाभिषेको येन, तस्मिन् (बहु०) । उपजघ्रौ = उप-उपसर्गपूर्वक 'घ्रा गन्धोपादाने' धातुसे लिट्‌के प्रथमपुरुषके एकवचनका रूप है । 'आत औ णलः' इस सूत्रसे णल्‌के स्थानमें औकार आदेश हुआ है । पुत्र और छोटे भाईका मस्तक सूँघना भारतीय शिष्टाचारका अंग है । वसन्त-तिलका छन्द है ॥ ७० ॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनितान[1]नविक्रियांश्च
[2]प्लक्षान् प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
[3]अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातै[4]-
र्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥

अन्वयः—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताऽऽननविक्रियान् प्ररोहजटिलान् प्लक्षान् इव प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभदृष्टिपातैः वार्ताऽनुयोगमधुराऽक्षरया वाचा च अन्वग्रहीत् ॥ ७१ ॥

व्याख्या—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताऽऽननविक्रियान् = मुखरोमाऽभिवृद्धयुत्पन्न-मुखविकारान्; अत एव प्ररोहजटिलान् = शाखाऽवलम्बिमूलजटावतः, प्लक्षान् इव = न्यग्रोधान् इव स्थितान्, प्रणमतः = प्रणामं कुर्वतः, मन्त्रिवृद्धांश्च = सचिवस्थविरांश्च, शुभदृष्टिपातैः = कृपाऽऽर्द्रविलोकनैः, वार्ताऽनुयोगमधुराऽक्षरया = कुशलप्रश्नकोमलवर्णया, वाचा च = वाण्या च, अन्वग्रहीत् = अनुग्रहीत-वान् राम इति शेषः ॥ २१ ॥

भावार्थः—रामो दीर्घकूर्चान् प्रणमतो मन्त्रिवृद्धान् कृपार्द्रैरवलोकनैः कुशलप्रश्नेन च अनुगृहीतवान् ॥ ७१ ॥

---

१. "कृति" इति पाठान्तरम् । २. "वृक्षान्" इति पाठान्तरम् ।
३. "प्रत्यग्रहीत्" इति पाठान्तरम् । ४. "दानैः" इति पाठान्तरम् ।

अनुवादः—रामचन्द्रजीने दाढ़ी और मूंछके बढ़नेसे विकृत मुखवाले जटावाले वरगदके पेड़ोंके समान, प्रणाम करनेवाले वृद्ध मन्त्रियोंको कृपासे आर्द्र अवलोकनोंसे और कुशल प्रश्नसे कोमल अक्षरवाली वाणीसे भी अनुगृहीत किया ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताऽऽननविक्रियान्=प्रकृष्टा वृद्धिः प्रवृद्धिः (गति०) तया जनिता (तृ० त०) आननेषु विक्रिया (स० त०)। श्मश्रुप्रवृद्धिजनिता आननविक्रिया येषां ते, तान् (वहु०)। प्ररोहजटिलान्=प्र+रुह+घञ्=प्ररोहः। प्ररोहैः, जटिलाः तान् (तृ० त०)। प्रणमतः—प्रणमन्तीति प्रणमन्तः तान्, प्र+णम्+लट् (शतृ)। मन्त्रिवृद्धान्=मन्त्रः (गुप्तभाषणम्) अस्ति येषां ते मन्त्रिणः, मन्त्र+इनिः। मन्त्रिणश्च ते वृद्धाः तान् (क० धा०) शुभदृष्टिपातैः—दृष्टयोः पाताः (ष० त०) शुभाश्च ते दृष्टिपाताः, तैः (क० धा०) वार्तानुयोगमधुराऽक्षरया=अनु+युज्+घञ्=अनुयोगः। वार्तस्य अनुयोगः (ष० त०)। "वार्तं फल्गुन्यरोगे च त्रिषु" इत्यमरः। नीरोगको "वार्त" कहते हैं, यहांपर यह कुशल अर्थमें प्रयुक्त है। अथवा—वार्तायाः अनुयोगः अर्थात् वृत्तान्त (खवर) का प्रश्न यह अर्थ भी हो सकता है। मधुरा अक्षरा यस्यां सा (वहु)। वार्तानुयोगेन मधुराक्षरा तया (तृ० त०) अन्वग्रहीत्=अनु+ग्रह+लुङ्+तिप्। इस श्लोकमें उपमा अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ७१ ॥

[1]दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष [2]समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन[3] कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥

अन्वयः—"अयं मे दुर्जातबन्धुः ऋक्षहरीश्वरः, एष समरेषु पुरः प्रहर्ता पौलस्त्यः" इति आदृतेन रघुनन्दनकथितौ उभौ लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

व्याख्या—अयम्=एषः, मे=मम, दुर्जातबन्धुः=आपद्बन्धुः, ऋक्ष-

१. "दुःखैकबन्धुः" इति पाठान्तरम्। २ "समरे चे" ति पाठान्तरम्।
३ "दरेणे"ति पाठान्तरम्।

हरीश्वरः=भल्लूकवानराऽधीशः, सुग्रीव इत्यर्थः । एषः निकटस्थः, समरेषु=युद्धेषु, पुरः प्रहर्ता=प्राक् प्रहारकर्ता, पौलस्त्यः=विभीषणः, इति=इत्थम्, आदृतेन=आदरवता, रघुनन्दनेन=रामचन्द्रेण, कथितौ=उक्तौ, उभौ=विभीषणसुग्रीवौ, लक्ष्मणं=सौमित्रिं, व्युत्क्रम्य, आलिङ्गनाऽऽदिभिरसंभाव्येति भावः । भरतः कैकेयीसुतः, ववन्दे=अभिवादितवान् ।। ७२ ।।

भावार्थः—"अयं मे आपद्बन्धुः सुग्रीवः एष वीरो विभीषण इति आदरकारिणा रामचन्द्रेण कथितौ सुग्रीवविभीषणौ भरतो लक्ष्मणमालिङ्गनादिभिरसंभाव्य प्रणनाम ।। ७२ ।।

अनुवादः—"ये मेरे आपत्तिके बान्धव भालुओं और वानरोंके राजा सुग्रीव हैं, ये युद्धोंमें आगे प्रहार करनेवाले विभीषण हैं" इस प्रकार आदर करनेवाले रामचन्द्रजीसे कहे गये दोनों (सुग्रीव और विभीषण) को भरतजी ने लक्ष्मणको आलिङ्गन आदिसे सत्कार करनेके पहले अभिवादन किया ।।७२।।

टिप्पणी—दुर्जातबन्धुः=दुष्टं जातं (जन्म) यस्य तत् दुर्जातम् (बहु०) 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः । दुर्जाते बन्धुः (स० त०) ऋक्षहरीश्वरः=ऋक्षाश्च हरयश्च (द्वन्द्वः), ऋक्षहरीणाम् ईश्वरः (ष० त०) । प्रहर्ता=प्रहरतीति, प्र + हृञ् + तृच् । पौलस्त्यः=पुलस्त्यस्याऽपत्यं पुमान्, पुलस्त्य + अण् । आदृतेन=आङ् + दृ + क्तः (कर्तरि) । रघुनन्दनेन—नन्दयतीति नन्दनः (टु + नदि + णिच् + ल्युः) । रघूणां नन्दनः तेन (ष० त०) । कथितौ=कथ + णिच् + क्तः (कर्मणि) व्युत्क्रम्य=वि + उद् + क्रम् + क्त्वा (ल्यप्), ववन्दे='वदि अभिवादनस्तुत्योः' धातुके लिट्के प्रथम पुरुषका एकवचन है । वसन्ततिलका छन्द है ।। ७२ ।।

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्नन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ।।

अन्वयः—तदनु सः सौमित्रिणा संससृजे नम्रशिरसम् एनम् उत्थाय रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन अस्य उरःस्थलेन भुजमध्यं क्लिश्नन् इव भृशम् आलिलिङ्ग च ।। ७३ ।।

व्याख्या—तदनु=सुग्रीवाऽऽदिवन्दनाऽनन्तरं, सः=भरतः सौमित्रिणा=लक्ष्मणेन, संससृजे=संगतः, नम्रशिरसं=प्रणतम्, एनं=सौमित्रं, उत्थाप्य=उत्थितं विधाय, रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन=उत्पन्नमेघनादाऽस्त्र-व्रणकठोरेण, अस्य=सौमित्रेः, उरःस्थलेन=वक्षःस्थलेन, भुजमध्यं=वाहु-मध्यं, स्वकीयमिति शेषः, क्लिश्नन् इव=पीडयन् इव, भृशं=गाढम्, आलि-लिङ्ग च=आलिङ्गितवांश्च ॥ ७३ ॥

भावाऽर्थः—भरतः सुग्रीवविभीषणवन्दनाऽनन्तरं नम्रमस्तकं लक्ष्मणमु-त्थाप्य आलिङ्गितवांश्च ॥ ७३ ॥

अनुवादः—उसके अनन्तर भरतजी लक्ष्मणसे मिले। उन्होंने प्रणाम कर झुके हुए उनको उठाकर इन्द्रजितके आयुधोंके प्रहारसे उत्पन्न व्रणोंसे कठोर उनकी छातीसे अपनी छातीको पीड़ित करते हुए गाढ़ आलिङ्गन भी किया ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—सौमित्रिणा=सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः, तेन, सुमित्रा+इञ्। संससृजे=सम्–उपसर्गपूर्वक 'सृज विसर्गे' इस दिवादिके धातुसे कर्ताके अर्थमें लिट् हुआ है। नम्रशिरसं–नमनशीलं नम्रम्, "णम् प्रह्वत्वे शब्दे" धातुसे "नमिकम्पिस्म्यजस्कमहिंसदीपो रः" इस सूत्रसे र प्रत्यय हुआ है। नम्+रः। नम्रं शिरो यस्य स नम्रशिराः तम् (बहु०)। उत्थाप्य=उद्+स्था+णिच्+क्त्वा (ल्यप्) रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रतकर्कशेन–इन्द्रं जयतीति इन्द्रजित्, इन्द्र+जि+क्विप्। इन्द्रजितः प्रहरणानि (ष० त०) प्र+हृ+ल्युट्। इन्द्रजित्प्रहरणैः व्रणानि (तृ० त०) रूढानि च तानि इन्द्रजित्प्रहरण-व्रणानि, तैः (क० धा०) रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणैः कर्कशं, तेन (तृ० त०)। उरःस्थलेन=उरसः स्थलं, तेन (ष० त०)। भुजमध्यं=भुजयोः मध्यं, तत् (ष० त०) क्लिश्नन्=क्लिश्नातीति, यहाँपर क्र्यादिस्थ "क्लिश् विबाधने" धातुसे श्ना प्रत्यय और लट्के स्थानमें शतृ हुआ है। यह धातु "क्लिश्नाति भुवनत्रयम्" ऐसा प्रयोग देखनेसे सकर्मक है। आलिलिङ्ग=आङ्-उपसर्गपूर्वक 'लिगि चित्रीकरणे' धातुके लिट्के प्रथम पुरुषमें एकवचनमें प्रयोग हुआ है। इस श्लोकमें उत्प्रेक्षा अलंकार और वसन्ततिलका छन्द है ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
[1]तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥

अन्वयः—तदानीं हरिचमूपतयः रामाऽऽज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रान् आरुरुहुः, बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु तेषु ते शैलाधिरोहणसुखानि उपलेभिरे ॥

व्याख्या—तदानीं = तस्मिन् समये, हरिचमूपतयः = वानरसेनापतयः, रामाज्ञया = राघवाऽऽदेशेन, मनुष्यवपुः = नरशरीरं, कृत्वा=विधाय, गजेन्द्रान् हस्तिश्रेष्ठान्, आरुरुहुः = आरूढवन्तः, बहुधा=अनेकशः, मदवारिधाराः=दान-जलधाराः, क्षरत्सु=वर्षत्सु, तेषु = गजेन्द्रेषु, ते=हरिचमूपतयः, शैलाऽधिरोहण-सुखानि = पर्वताऽऽरोहणाऽऽनन्दान् उपलेभिरे=अनुभूतवन्तः ॥ ७४ ॥

भावाऽर्थः—तस्मिन् समये, वानरसेनापतयो रामाज्ञया नरशरीरं गृहीत्वा गजेन्द्ररूढाः अनेकशो मदजलानि क्षरत्सु तेषु पर्वताऽरोहणसुखं प्राप्तवन्तश्च ॥

अनुवादः—उस समय वानरसेनापति रामचन्द्रजीकी आज्ञासे (कामरूपी होनेसे) मनुष्यशरीरधारण कर श्रेष्ठ हाथियों पर सवार हुए, अतिशय मद-धाराओंको गिराते हुए उन पर उन्होंने (वानरसेनापतियोंने) पहाड़ों पर चढ़नेके सुख को प्राप्त किया ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—तदानीं = तस्मिन्काले, 'तद्' शब्दसे "तदो दा च" इस सूत्रसे "दानीम्" भी हो गया है। हरिचमूपतयः—हरीणां चम्वः, (ष० त०), 'पृतनाऽनीकिनी चमूः" इत्यमरः। हरिचमूनां पतयः (ष० त०)। रामाऽऽज्ञया = रामस्य आज्ञा, तया (ष० त०)। मनुष्यवपुः—मनोरपत्यानि पुमांसो मनुष्याः, 'मनु' शब्दसे "मनोर्जातावञ्यतो षुक् च" इस सूत्रसे यत् प्रत्यय और "षुक्" आगम हुआ है। मनुष्याणां वपुः, तत् (ष० त०)। गजेन्द्रान् = गजानाम् इन्द्राः तान् (ष० त०)। आरुरुहुः=आङ् + रुह + लिङ् + झिः। बहुधा-बहुभिः प्रकारैः, 'बहु' शब्दसे 'संख्याया विधार्थे धा' इस सूत्रसे धा प्रत्यय हुआ है। मदवारिधाराः = मदस्य वारीणि (ष० त०) तेषां धाराः, ताः (ष० त०)। क्षरत्सु=क्षर् + लट् + शतृ + सुप्। पालकाप्यने "मत्त हाथी सात स्थानोंसे मद-गिराता है" ऐसा लिखा है, जैसे:—"करात् कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मद-स्रुतिः'। अर्थात् हाथीके नाकके दो छेदोंसे, दो कपोलोंसे, उपस्थसे और दो

१. "येषु" इति पाठान्तरम्।

नेत्रोंसे मद गिरता है। शैलाऽधिरोहणसुखानि=शैलेषु अधिरोहणानि (ष० त०) तेषां सुखानि, तानि (ष० त०)। उपलेभिरे=उप-उपसर्गपूर्वक, 'डुलभष् प्राप्तौ' धातुके लिट्में प्रथमपुरुषके बहुवचन 'झ'का रूप है "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इस सूत्रसे 'झ' के स्थानमें "इरेच्" आदेश हुआ है। "उपलम्भसवनुभवः" इत्यमरः। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे [1]रथान् दशरथप्रभवानुशिष्टः।
मायाविकल्परचितैरपि [2]ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिम[3]भक्तिशोभाः॥

अन्वयः—साऽनुप्लवः क्षणदाचराणां प्रभुः अपि दशरथप्रभवाऽनुशिष्टः (सन) रथान् भेजे। ये मायाविकल्परचितैः अपि तदीयैः स्यन्दनैः तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः न (भवन्ति)॥ ७५ ॥

व्याख्या—साऽनुप्लवः=साऽनुचरः, क्षणदाचराणां=राक्षसानां, प्रभुः अपि=स्वामी अपि, विभीषणोऽपीति भावः। दशरथप्रभवाऽनुशिष्टः=रामाऽऽज्ञप्तः (सन्), रथान्=स्यन्दनान्, भेजे=सिषेवे, आरुरोह इत्यर्थः। ये=रथाः, मायाविकल्परचिताः अपि=सङ्कल्पविशेषनिर्मितैः अपि, तदीयैः=विभीषणसम्बन्धिभिः, स्यन्दनैः=रथैः, तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः—समीकृतक्रियानिर्वृत्तरचनाकान्तयः, न=न भवन्ति ॥ ७५ ॥

भावाऽर्थः—साऽनुचरो निशाचराऽधिपतिर्विभीषणोऽपि रामाज्ञया रथानारूढः सङ्कल्पविशेषनिर्मिता विभीषणरथा अपि येषां साम्यं न प्राप्नुवन्ति ॥

अनुवादः—अनुचरोंके साथ राक्षसोंके अधिपति विभीषण भी रामचन्द्रजीकी आज्ञासे रथोंपर आरूढ हुए जो रथ मायाकी कल्पनासे रचित विभीषणके रथोंसे भी तुलित कृत्रिम रचना की शोभावाले नहीं होते थे ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—साऽनुप्लवः=अनुप्लवैः सहितः (तुल्ययोग बहु०), "अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवोऽनुगः" इति यादवः। क्षणदाचराणां=क्षणं ददातीति क्षणदा, क्षण+दा+क+टाप्। "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा

१. "रथम्" इति पुस्तकान्तरपाठः। २. "य" इति पाठान्तरम्।
३. "भक्तिशोभी" ति पाठान्तरम्।

क्षपा ।" इत्यमरः । क्षणदायां चरन्तीति क्षणदाचराः, तेषाम्, क्षणदा उपपद-पूर्वक "चर" धातुसे "चरेष्टः" इस सूत्रसे टप्रत्यय और उपपदसमास हुआ है। दशरथप्रभवाऽनुशिष्टः=प्रभवति अस्मादिति प्रभवः, प्र-उपसर्गपूर्वक "भू" धातु-से "ऋदोरप्" इस सूत्रसे अप् प्रत्यय हुआ है। दशरथः प्रभवो (जनकः) यस्य सः (वहु०), तेन अनुशिष्टः (तृ० त०) । भेजे="भज सेवायाम्" धातुके लिट्के प्रथमपुरुषमें एकवचनका रूप है । "तृफलभजत्रपश्च" इस सूत्रसे एत्व और अभ्यास लोप हुआ है । मायाविकल्परचितैः=मायाया विकल्पाः (भेदाः), (ष० त०) तैः रचिताः, तैः (तृ० त०) । तदीयैः--तस्य इमे तदीयाः, तैः, तद्+छ (ईयः) । तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः=भक्तीनां शोभा (ष० त०) । क्रियया निर्वृत्ता कृत्रिमा, यहाँ पर "डुकृञ् करणे" धातुसे "ड्वितः क्त्रिः" इस सूत्रसे 'क्त्रि' प्रत्यय होकर "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इससे मप् प्रत्यय हुआ है। कृत्रिमा चाऽसौ भक्तिशोभा (क० धा०) तुलिता कृत्रिमभक्तिशोभा येषां ते (बहु०) । वसन्ततिलका छन्द है ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
[1]स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्र[2] वृन्दम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ततो रघुपतिः साऽवरजः (सन्) विलसत्पताकं कामगति-विमानं भूयः बुधबृहस्पतियोगदृश्यः तारापतिः दोषातनं तरलविद्युत् अभ्रवृन्दम् इव अध्यास्त ॥ ७६ ॥

व्याख्या—ततः=अनन्तरं, रघुपतिः=रामः, साऽवरजः=साऽनुजः, भरतलक्ष्मणसहितः सन्नित्यर्थः । विलसत्पताकं=शोभमानध्वजं, कामगतिं=इच्छानुसारगतियुक्तम्, विमानं=व्योमयानं पुष्पकमित्यर्थः । भूयः पुनरपि, बुधबृहस्पतियोगदृश्यः=रौहिणेयवाचस्पतिसङ्गतिदर्शनीयः, तारापतिः=चन्द्रः

१. "दाराऽधिप" इति पाठान्तरम् ।
२. "कूटम्" इति पाठान्तरम् ।

दोषातनं=नैशं, तरलविद्युत्=चञ्चलसौदामनीकम्, अभ्रवृन्दम् इव=मेघसमूहम् इव, अध्यास्त=अधिष्ठितवान् ॥ ७६ ॥

भावार्थः—ततो रामो भरतलक्ष्मणसहितः सन् पताकोपेतं स्वेच्छानुसारेण विचरणशीलं विमानमध्यारूढः ॥ ७६ ॥

अनुवाद—तब रामचन्द्रजी छोटे भाई भरत और लक्ष्मणके साथ शोभित होनेवाली पताकासे युक्त इच्छाके अनुसार गतिवाले पुष्पक पिमानपर जैसे बुध और वृहस्पतिकी संगतिसे दर्शनीय तारापति (चन्द्रमा) रातमें चञ्चल बिजली वाले मेघसमूहपर आरूढ़ होते हैं वैसे ही आरूढ़ हुए ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—ततः=तद्+तसिल्। रघुपतिः=रघूणां (रघुवंश्यानां राज्ञाम्) पतिः (श्रेष्ठः) (ष० त०)। साऽवरजः=अवरस्मिन् (काले) जातौ, अवरजौ, यहाँपर अवर-उपपदपूर्वक "जनी प्रादुर्भावे" धातुसे "सप्तम्यां जनेर्डः" इस सूत्रसे डप्रत्यय हुआ है, अवर+जन्+ड (उपपदसमासः)। अवरजाभ्यां सहितः (तुल्ययोगवहु०)। विलसत्पताकं=विलसतीति विलसन्ती, वि+लस्+लट् (शतृ) ङीप्। विलसन्ती पताका यस्मिंस्तत् (वहु०)। "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियाऽऽदिषु" इस सूत्रसे पूर्वपदका पुंवद्भाव हो गया है। कामगतिं=कामेन गतिः यस्य तत् (व्यधिकरण०)। बुधवृहस्पतियोगदृश्यः=वृहतां पतिः, वृहस्पतिः (ष० त०)। यहाँपर "तद्वृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च" इससे सुट् होकर तकारका लोप हुआ है। बुधश्च वृहस्पतिश्च बुधवृहस्पती (द्वन्द्वः), यहाँहर "अल्पाऽच्तरम्" इस सूत्रसे बुध शब्दका पूर्वप्रयोग हुआ। युज्+घञ्+योगः। बुधवृहस्पत्योर्योगः (ष० त०), तेन दृश्यः (तृ० त०) तारापतिः=तारणां पतिः (ष० त०)। दोषातनं=दोषाभवम्, यहाँपर "दोषा" अव्ययसे "सायञ्चिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" इस सूत्रसे ट्यु या ट्युल् प्रत्यय और तुट् आगम हुआ है। तरलविद्युत्=विद्योतते इति विद्युत्, वि+द्युत्=क्विप्। तरला विद्युत् यस्मिस्तत् (वहु०)। अभ्रवृन्दम्=अभ्राणां वृन्दं तत् (ष० त०)। विमान और अभ्रवृन्दसे "अध्यास्त" अधिपूर्वक "आस उपवेसने" इस धातुके योगमें "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इस सूत्रसे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई है। इस श्लोकमें उपमा अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वी
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्
प्रत्युद्धृतां धृतमतीं भरतो ववन्दे ।। ७७ ।।

अन्वयः—तत्र जगताम् ईश्वरेण प्रलयात् उर्वीम् इव वर्षाऽत्ययेन अभ्रघनात् इन्दो रुचम् इव रामेण दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं मैथिलसुतां भरतो ववन्दे ।। ७७ ।।

व्याख्या—तत्र=तस्मिन् । विमाने । जगताम्=लोकानाम्, ईश्वरेण=स्वामिना, आदिवराहेणेति भावः । प्रलयात्—कल्पान्तात्, उर्वीम् इव=पृथ्वीम् इव वर्षाऽत्ययेन=शरदागमेन, अभ्रघनात्=मेघसङ्घातात्, इन्दोः=चन्द्रमसः, रुचम् इव=कान्तिम् इव, चन्द्रिकाम् इवेति भावः । तथैव रामेण=रघुपतिना, दशकण्ठकृच्छ्रात्=रावणसङ्कटात्, प्रत्युद्धृतां=प्रत्युन्मोचितां, तत एव—धृतिमतीं=सन्तोषवतीं, मैथिलसुतां-सीतां, भरतः-कैकेयीनन्दनः, ववन्दे-अभिवादितवान् ।।

भावाऽर्थः—विमाने आदिवराहेण प्रलयात्पृथ्वीमिव शरदागमेन चन्द्रचन्द्रिकामिव रामेण रावणरूपसङ्कटात् प्रत्युद्धृतां सीतां भरतोऽभिवादयामास ।। ७७ ।।

अनुवादः—उस विमानपर जगदीश्वर (वराह) नें जैसे प्रलयसे पृथ्वीका उद्धार किया था, शरत् ने जैसे मेघसमूहसे चाँदनीका उद्धार किया था वैसे ही रामसे रावणरूप संकटसे प्रत्युधृता (अत एव) सन्तोषवाली सीताको भरतने अभिवादन किया ।। ७७ ।।

टिप्पणी—तत्र=तस्मिन्निति, तद्+त्रल् । जगतां=गच्छन्तीति जगन्ति, तेषाम्, यहाँपर "वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च" इस सूत्रसे वर्तमानकालमें "जगत्" शब्दका निपातन किया गया है । गम्+लट् (शतृ) । ईश्वरेण=ईष्टे असौ ईश्वरः, तेन, ईश+वरच् । कर्तांके अनुक्त होनेसे तृतीया विभक्ति हुई है । प्रलयात्=अपादानमें पञ्चमी हुई है । वर्षाऽत्ययेन=वर्षाणाम् अत्ययः (ध्वंसः) यस्मिन् सः, तेन (व्यधि०) । "स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः" इत्यमरः । अभ्रघनात्=अभ्राणां घनं तस्मात् (ष० त०) ।

दशकण्ठकृच्छ्रात्=दश कण्ठा यस्य स दशकण्ठः (बहु०)। स एव कृच्छ्रं, तस्मात् (रूपक०)। प्रत्युद्धृतां=प्रति + उद् + धृञ् + क्तः + टाप्। धृतिमतीं=प्रशस्ता धृतिः यस्याः सा धृतिमती ताम्, यहाँपर धृति' शब्दसे "तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्" इस सूत्रसे मतुप् प्रत्यय होकर स्त्रीत्वविवक्षामें "उगितश्च" इससे ङीप् प्रत्यय हुआ है। धृति मतुप् ङीप्। ववन्दे–'वदि अभिवादनस्तुत्योः" इस धातुसे लिट्के प्रथमपुरुषके एकवचनका रूप है यहाँपर एक उपमेयके बहुतसे उपमान होनेसे "मालोपमा" अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है॥ ७७॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥

अन्वयः—लंकेश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं वन्द्यं तद् जनकात्मजायाः चरणयोः युगं ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं साधोः अस्य शिरश्च (इति) उभयं समेत्य अन्योन्य-पावनम् अभूत्॥ ७८॥

व्याख्या–लंकेश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं=रावणप्रणामनिरासाऽखण्डितपातिव्रत्यम् (अत एव) वन्द्यम्=अभिवादनीयं, तत्=पूर्ववन्दितं, जनकात्मजायाः=जानक्याः, सीताया इत्यर्थः। चरणयोः=पादयोः, युगं=युग्मं, ज्येष्ठाऽनुवृत्तिजटिलम्=अग्रजाऽनुसरणाज्जटायुक्तं, साधोः=सज्जनस्य, अस्य=भरतस्य, शिरश्च=मस्तकश्च, (इति=इत्थम्), उभयं, समेत्य=मिलित्वा, अन्योन्यपावनं=परस्परशोधकम्, अभूत्=अभवत्॥ ७८॥

भावार्थः—रावणप्रणामनिषेधकं नमस्करणीयं सीतायाश्चरणद्वयं रामाऽनुसरणेन जटायुक्तो भरतमस्तकश्चेति द्वितयं मिलित्वा परस्परशोधकं सञ्जातम्॥ ७८॥

अनुवादः—रावणके प्रणामोंको भङ्ग करनेसे दृढ़ सतीव्रतवाला अत एव अभिवादनीया सीताजीका वह चरणयुगल और ज्येष्ठ भ्राता रामके अनुसरणसे जटावाला सज्जन भरतजीका मस्तक ये दोनों ही मिलकर एक दूसरेको पवित्र करनेवाले हुए॥ ७८॥

टिप्पणी—लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं=लङ्काया ईश्वरः (ष० त०)।

प्रणमनं प्रणतिः यहाँपर प्र—उपसर्गपूर्वक "णम प्रह्वत्वे शब्दे" इस धातुसे "स्त्रियां क्तिन्" इस सूत्रसे क्तिन् प्रत्यय हुआ है, प्र+नम्+क्तिन्=प्रणतिः। लंकेश्वरस्य प्रणतयः (ष० त०) तासां भङ्गः (ष० त०)। दृढं व्रतं यस्य तत् (बहु०)। लंकेश्वरप्रणतिभङ्गेन दृढव्रतम् (तृ० त०)। वन्द्यं वन्दितुं योग्यं, वदि+ण्यत्। तद्=यह शब्द यहाँपर प्रसिद्धाऽर्थक है अतः 'यद्' शब्दकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसीलिए विधेयाऽविमर्श दोष नहीं होता है। जनकात्मजायाः=जनकस्य आत्मजा, तस्याः (ष० त०)। युगं="युग्मं तु युगलं युगम्" इत्यमरः। ज्येष्ठाऽनुवृत्तिजटिलम्=अतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः, यहाँपर "प्रशस्य' शब्दसे "अतिशायने तमबिष्ठनौ" इस सूत्रसे इष्ठन् प्रत्यय होकर "ज्य च" इस सूत्रसे 'प्रशस्य' के स्थानमें "ज्य" आदेस हुआ है। अनुवर्तनम् अनुवृत्तिः अनु+वृत्+क्तिन्। ज्येष्ठस्य अनुवृत्तिः (ष० त०), तया (हेतुना) जटिलम् (तृ० त०)। साधोः=साध्नोति (परकार्याणि) इति साधुः तस्य साधु+उण्। उभयम्=उभौ अवयवौ यस्य (अवयविनः) तत्, यहाँपर उभशब्दसे "संख्याया अवयवे तयप्" इससे तयप् होकर "उभादुदात्तो नित्यम्" इस सूत्रसे अयच् आदेश हुआ है। समेत्य=सम्+आङ्+इण्+क्त्वा (ल्यप्)। अन्योन्यपावनं=पावयतीति पावनम्, यहाँपर णिजन्त "पूङ् पवने" धातुसे "कृत्यलुटो बहुलम्" इस सूत्रसे "बहुलम्" ग्रहण करनेके सामर्थ्यसे कर्तामें ल्युट् प्रत्यय हुआ है। पूङ्+णिच्+ल्युट्। अन्योन्यस्य पावनम् (ष० त०)। ल्युट्+भू+लङ्+प्रथमपुरुष तिप्, यहाँपर "गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु" इस सूत्रसे सिच्का लुक् हुआ है। इस श्लोकमें अन्योन्य अलंकार है, उसका लक्षण सोदाहरण चन्द्रालोकमें दिया है—

"अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया;'॥

वसन्ततिलका छन्द है॥ ७८॥

क्रोशार्धं[1] प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास॥ ७९॥

१. "पुरःसरोऽर्वी"ति पाठान्तरम्।

अन्वयः—आर्यः काकुत्स्थः प्रकृतिपुरःसरेण स्तिमितजवेन पुष्पकेण क्रोशार्द्धं गत्वा शत्रुघ्नप्रतिहितोपकार्यम् उदारं साकेतोपवनम् अध्युवास ॥ ७९ ॥

व्याख्या—आर्यः=पूज्यः, काकुत्स्थः=ककुत्स्थवंशोत्पन्नः, राम इति भावः । प्रकृतिपुरःसरेण=प्रजाऽग्रसरेण, स्तिमितजवेन=मन्दवेगेन, पुष्पकेण=विमानेन, क्रोशार्धं=क्रोसार्धभागं, गत्वा=प्राप्य, शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यं=शत्रुघ्नसज्जितपटभवनम्, उदारं=महत्, साकेतोपवनम्=अयोध्याऽऽरामम्, अध्युवास=अधितष्ठौ ॥ ७९ ॥

भावाऽर्थः—रामो मन्दवेगेन पुष्पकेण क्रोशार्द्धं गत्वा शत्रुघ्नसज्जितपटभवनोपेतं महान्तमम् अयोध्याया आराममधितष्ठौ ॥ ७९ ॥

अनुवादः—पूज्य रामचन्द्रजीने प्रजाजन जिसके आगे चल रहे हैं ऐसे मन्दगतिवाले पुष्पक विमानसे आधाकोस चलकर शत्रुघ्नसे सजाये गये तम्बुओं से युक्त अयोध्याके बड़ेसे उपवनमें निवास किया ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—आर्यः=अर्तुं योग्यः, यहाँपर 'ऋ गतौ' धातुसे 'ऋहलोर्ण्यत्' इस सूत्रसे ण्यत् प्रत्यय हुआ है" "महाकुलकुलीनाऽऽर्यसभ्यसज्जनसाधवः ।" इत्यमरः । काकुत्स्थः=ककुत्स्थस्याऽपत्यं पुमान् ककुत्स्थ+अण् । इक्ष्वाकुके वंशमें कोई 'पुरञ्जय' नामक राजा हुआ था, उसने दैत्योंके साथ जब देवताओं का युद्ध हुआ था उसमें देवताओंको सहायता की थी और वृषभरूपधारी इन्द्रके ककुद् (पीठमें स्थित माँसपिण्ड) पर चढ़कर दैत्योंको परास्त किया था तभीसे उसका नाम "ककुत्स्थ" पड़ गया था । तबसे उसके अनन्तरवर्ती राजाओंको "काकुत्स्थ" कहने लगे । प्रकृतिपुरःसरेण=पुरः सरन्तीति पुरःसर्यः, पुरस्+सृ+ट+ङीप् । प्रकृतयः पुरःसर्यो यस्य तत्, तेन (बहु०) । स्तिमितजवेन=स्तिमितो जवो यस्य, तेन (बहु०) । पुष्पकेण=गमनक्रियामें अत्यन्त उपकारक होनेसे "साधकतमं करणम्" इस सूत्रसे करणसंज्ञा होकर "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इससे तृतीया विभक्ति हुई है । क्रोशाऽर्द्धं=क्रोशस्य अर्द्धं, तत् (ष० त०) । गत्वा=गम्+क्त्वा । शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यं=शत्रून् हन्तीति शत्रुघ्नः, शत्रु—उपपदपूर्वक "हन हिंसागत्योः" धातुसे "कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्" इस वार्तिकसे क प्रत्यय हुआ है, शत्रु+हन्+कः

(उपपदसमासः) । प्रतिविहिता उपकार्या यस्मिस्तत् (बहु०) । 'उपकार्योपकारिका" इत्यमरः । शत्रुघ्नेन प्रतिविहितोपकार्यं, तत् (तृ० त०) । उदारं= "उदारो दातृमहतोः" इत्यमरः । साकेतोपवनं साकेतस्य उपवनं तत् (ष० त०) । साकेतः स्यादयध्योयार्या कोसलानन्दिनी तथा ।" इति यादवः । अधिपूर्वक 'वस' धातुके योगमें 'उपान्वध्याङ्वस' इससे कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया हुई है ।

अध्युवास=अधि-पूर्वक "वस निवासे" धातुके लिट् के प्रथम पुरुषका एक वचन है "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इससे अभ्यासका संप्रसारण हुआ है ।

प्रहर्षिणी छन्द है, उसका लक्षण है—"म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाकविकालिदासकृतौ महाकाव्ये रघुवंशे शेषराजशर्मकृत-चन्द्रकलाभिख्यव्याख्यायां त्रयोदशः सर्गः ।